संपादक
यशदेव शल्य - मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक
अंबिकादत्त शर्मा

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 21, अंक 1
जनवरी, 2007

वर्ष 21 अंक 1 जनवरी, 2007

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

परामर्शदाता

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे,** द्वारा श्री वी. के. पाण्डे, ए-90 अलकापुरी, पोस्ट आफिस भेल, भोपाल-462024
2. **दयाकृष्ण,** चौथी मंज़िल, एच.डी.एफ.सी. एन्क्लेव, अशोक मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302001
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
4. **अशोक वाजपेयी,** सी-60, अनुपम को-आपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-96

संपादक

1. **यशदेव शल्य,** पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015, दूरभाष 2707493
2. **मुकुन्द लाठ,** ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006 दूरभाष 2294737 / 2293725
3. **अम्बिकादत्त शर्मा,** बी.डी.एस. 2, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-220587

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/-
संस्थाएं : रु 100/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 500/-
संस्थाएं : रु 5000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोज़िंग तथा श्रीजी प्रिण्टर्स, नाटी इमली, वाराणसी द्वारा मुद्रित।

अनुक्रमणिका

1.	प्राकृत सत्ता और मानव-अस्मिता	गोविन्दचन्द्र पांडे	1
2.	क्या है?, क्या नहीं है? – एक बातचीत	मुकुन्द लाठ	27
3.	चित् की आत्मगवेषणा	यशदेव शल्य	55
4.	आत्मस्थ बुद्ध आत्महीन?	अनिलकुमार तिवारी	67

पुस्तक-समीक्षा

1.	इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व सं. अंबिकादत्त शर्मा	नारायण शास्त्री द्राविड़	80
2.	तुलनात्मक दर्शन सं. डॉ. कालीचरण पांडेय	राजकुमार छाबड़ा	88
3.	समसामयिक चिन्ताएँ ले. यशदेव शल्य	सिद्धेश्वर प्रसाद	100
4.	भारतीय दर्शन-कोश ले. डॉ. सन्तोष आचार्य	अंबिकादत्त शर्मा	106

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	:	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म-संकट	-	मुकुंद लाठ	200.00
3.	मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	-	यशदेव शल्य	200.00
4.	चिद्विमर्श	-	यशदेव शल्य	175.00
5.	तत्त्व-चिन्तन	-	यशदेव शल्य	200.00
6.	काव्य-विमर्श	-	यशदेव शल्य	250.00
7.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	-	यशदेव शल्य भगवती	150.00

प्राकृत सत्ता और मानव-अस्मिता

गोविन्दचन्द्र पांडे

वस्तु की आन्तरिक दिग्-देश व्यवस्थिति इस तरह से आगन्तुक नहीं है जैसे उसके अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से निर्देश्य स्थिति के दिग्-देश। अन्य सापेक्ष दिग्-देश का निर्देशान्तक निर्देश के प्रकार पर निर्भर करता है। प्रत्येक वस्तु से सम्पर्क स्थापित करने के लिए हमें जिस निर्देशान्त का सहारा लेना होता है उसका विवरण हमारे दैनन्दिन देशानुभव के समान हो यह आवश्यक नहीं है। इण्टरनेट पर स्थान का पता वेबसाइट के द्वारा दिया जाता है, जिसमें दिशा और दूरी नहीं बतायी जाती, खागोल विद्या में दूरी को कोणों से नापते हैं, देवता आदि विभु सत्ताओं की पहचान नाम से ही होती है। एक भौतिक वस्तु एक ही सीमित स्थान पर विद्यमान है यह धारणा भी इस समय परमाणु भौतिकी में प्रश्नचिह्नित है। दिग्-देश की सापेक्षता वस्तु और बुद्धि दोनों को ही समेटती है, वह न पूर्णत: वास्तविक है न काल्पनिक। देश की रचना के अन्दर भी विरोध सुप्रसिद्ध हैं। देश की कल्पना अविच्छिन्न या निरन्तर विस्तार की है, उसका छोटा से छोटा अन्तर नि:सीम रूप से विभक्त किया जा सकता है। इन विभागों का विस्तार घटते-घटते शून्य के यथेष्ट निकट पहुँच जाएगा किन्तु शून्य नहीं होगा, यह तो एक कल्पना का प्रकार है। किन्तु यदि भौतिक द्रव्यों का मूल पता करने के लिए उनके पिण्ड को अणु-परमाणु में विभक्त किया जाए तो अन्तिम अवयव को कभी भी अन्तिम नहीं मान सकेंगे।

तो फिर सृष्टि के आरम्भ में मूल पिण्ड किस प्रकार का होगा? इस पिण्ड का किसी भी प्रकार का मध्यम परिमाण नहीं हो सकता, अन्यथा वह मूलभूत अणु नहीं होगा। यह मूलभूत भौतिक द्रव्य परिमाण में शून्य किन्तु सघनता में अनन्त होना चाहिए। देश, काल, संख्या, क्रिया आदि के नियम उस समय अस्तित्व नहीं रखते। अवधारणा और ज्ञान के सभी तत्त्व और प्रकार सृष्टि के साथ ही अस्तित्व-लाभ करते हैं, उससे पूर्व नहीं, जबकि उनके मूल की कल्पना की जाती है।

प्रश्न यह है कि कल्पना और यथार्थ किस प्रकार जोड़े जाएंगे? यथार्थ को जिस प्रकार से समझा जाता है उसमें अन्तर्द्वन्द्व मिलता है। गणित में परिमित अन्तर के असीमित विभाजन की समस्याओं को एक विशेष प्रकार से सुलझाया जाता है। व्यवहार में विभाग और संयोग सदा सीमित ही रहते हैं। वैज्ञानिक विखण्डन में भी कभी ऐसा परमाणु प्राप्त नहीं होता जिसका देश और काल में विस्तार शून्य हो। देश और काल की कल्पना में अनन्त विभाजन की सम्भावना निहित है, किन्तु उसका कोई पर्यन्त मान नहीं हो सकता।

ऐसे ही देश-काल के विस्तार की कोई महत्तम सीमा नहीं होती, क्योंकि सभी सीमाएं देश के अन्तर होती हैं। सीमा की आभ्यान्तरिकता के कारण ही न लघुत्तम प्रदेश हो सकता है न महत्तम। सीमा सदा उस पार का पता देती है। देश की सीमा आदेश के विदित होने पर ही सम्भव है, किन्तु तब वह देशगत सीमा नहीं होगी।

इसीलिए विज्ञान में देश और काल को मान, निर्देश और क्रम-निर्देश के आयाम के रूप में ही अवधारित किया जाता है पृथक् या अपृथक् द्रव्य के रूप में नहीं। द्रव्य और रूप की जैसी सापेक्षता है ऐसे ही द्रव्यों के सम्बन्ध के आयाम के रूप में देश और काल हैं। अर्थात् द्रव्य जातीय और विशेष गुणों के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों के साथ क्रियोपलक्षित सम्बन्ध रखता है। इन सम्बन्धों में सबसे आधारभूत सम्बन्ध कार्य-कारण भाव का है। किसी वस्तु की देशगत स्थिति कैसी है अथवा वह कार्य-क्रम में कहाँ अवस्थित है इसका नियामक कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। वास्तविकता में कोई भी सम्बन्ध यादृच्छिक या अकारण नहीं होता। क्योंकि कारण का व्यापार वस्तु-स्वभाव-निरपेक्ष नहीं होता। इसीलिए किसी न किसी मात्रा में सम्बन्ध स्वाभाविक होंगे।

सम्बन्धों का विभाजन जब स्वाभाविक और आगन्तुक दो रूपों में किया जाता है तब स्वाभाविक जातीय एवं व्यक्ति के अवच्छेदक धर्म से होता है। जब उसके आगन्तुक धर्मों की बात होती है तो उसके अन्य के साथ सम्बन्धों पर आश्रित धर्म प्रासंगिक होते हैं। दोनों प्रकार के सम्बन्धों में कुछ वस्तु की सत्ता बने रहने तक बने रहते हैं, कुछ अनायास परिवर्तनीय होते हैं। किसी मनुष्य का मनुष्यत्व उसके मरने तक बना रहता है, उसकी उस व्यक्ति के रूप में पहचान भी उसी प्रकार बनी रहती है, उसमें अवस्था-भेद स्वभाव से ही होता है किन्तु स्थायी नहीं होता। उसकी वेश-भूषा, सामाजिक भूमिका आदि से प्राप्त लक्षण अनायास चेष्टा से बदले जा सकते हैं। किसी द्रव्य के धर्म दीर्घकालिक हों या अल्पकालिक वे सभी सकारण होते हैं और इन कारणों में वस्तु का स्वभाव ही एक कारण होता है। किसी वस्तु के अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध या तो अभेदमूलक होंगे या भेदमूलक। यदि भेद रहते हुए सम्बन्ध है तो उसके नियत होने पर किसी न किसी रूप में कार्य-कारण भाव पर निर्भर रहना होगा। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार का नियम निराधार है। रंग और स्पर्श नितान्त भिन्न धर्म हैं, नीलापन और कड़ापन सर्वथा भिन्न धर्म हैं पर उनमें कोई कार्य-कारण भाव नहीं है, उनमें कोई नियत सम्बन्ध भी नहीं है। यह अवश्य है कि वे एक इन्द्रिय के विषय नहीं हैं किन्तु इनकी देश-काल की वृत्ति में कोई नियम नहीं है। जहाँ और जब कड़ापन होता है वहाँ नीलापन का होना या समानान्तर होना आवश्यक नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि दो वस्तुओं में कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध उनके भेद से सिद्ध नहीं होता, वह उनके भाव और अभाव में एक विशेष प्रकार के नियम से सिद्ध होता है।

ये नियामक भाव और अभाव पाँच प्रकारों से निदर्शित किये गये हैं–कारण का अस्तित्व होने पर कार्य का अभाव, कार्य का अस्तित्व होने पर कारण का अस्तित्व, कारण के अभाव में कार्य का अभाव, कारण का अभाव हो जाने पर कार्य का अस्तित्व, कार्य और कारण दोनों का अभाव। एक स्थल पर अग्नि विद्यमान होती है और धूएं का अभाव होता है, धूएं के विद्यमान होने पर अग्नि भी विद्यमान होती है, अग्नि के न होने पर धुआँ भी नहीं होता। इन तीनों स्थितियों को क्रमशः तप्त लौह-पिण्ड, रसोईघर और तालाब में देखा जा सकता है। कार्य से कारण का पृथक् अस्तित्व, कार्य और कारण का सह-अस्तित्व, कार्य का पूर्व-अभाव, कार्य का कारण के न रहने पर अभाव, दोनों का ही पृथक्-पृथक् अभाव। इस प्रकार दो अस्तित्व और तीन अभाव, इनके द्वारा कार्य-कारण भाव को परिभाषित किया गया है। अभावों की उपलब्धि कार्य-कारण-भाव सिद्धि के लिए आवश्यक है। यदि कार्य और कारण किसी एक का भी कभी अभाव नहीं होता तो वह कार्य या कारण नहीं हो सकता, वह क्रिया से अछूता सर्वकालिक पदार्थ होगा जो सभी कारणों और कार्यों से समान रूप से सम्बद्ध होगा। उदाहरण के लिए देश-काल, आकाश और निर्गुण ब्रह्म किसी वस्तु के कार्य-कारण नहीं हो सकते क्योंकि उनका कभी भी अभाव नहीं होता। कुछ विचारक इस प्रकार की सत्ताओं को सर्वसाधारण कारण मानते हैं, क्योंकि इनके अभाव में किसी भी कार्य की उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। यह कहा जा सकता है कि अभौतिक पदार्थों में देश का अभाव उपलब्ध होने से यह कहा जा सकता है कि भौतिक पदार्थों के होने पर देश विद्यमान होता है, देश के अविद्यमान होने पर भौतिक पदार्थ भी अविद्यमान होते हैं, अतः देश का अस्तित्व भौतिक अस्तित्व के लिए अनवार्य है। किन्तु भौतिक पदार्थों के अभाव में देश की पृथक् विद्यमानता सिद्ध नहीं होती, इसलिए कारण के होने पर कार्य के अभाव की शर्त पूरी नहीं होती। यदि यह कहा जाए कि भौतिक द्रव्य ही दिग्-देश के कारण हैं तो भी कारण के पृथक् भाव और अभाव की शर्त पूरी नहीं होती। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि देश का सर्वव्यापी भाव नहीं है तो भी वह द्रव्य से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

कार्य-कारण सम्बन्ध के विषय में विचार तब उठता है जब हम घटनाओं को नियम के अनुसार होता देखते हैं। प्रत्येक वस्तु का कार्य भी नियमित दिखायी देता है। कुछ भी करने में या किसी बात के घटने में अलग-अलग प्रकार की योग्य सामग्री या परिस्थिति अपेक्षित होती है। सब देश-काल और द्रव्यों का सम्बन्ध सभी प्रकार की घटनाओं और क्रियाओं से नहीं होता। किसी कार्य को करने के लिए कर्त्ता, उपादान, करण और प्रयोजन की आवश्यकता होती है। क्रिया के कर्त्ता का व्यापार किसी देश-काल में किसी द्रव्य अथवा द्रव्य के सम्बन्धों को परिवर्तित करने से सम्पन्न होता है। क्रिया के लिए कर्त्ता उसका निमित्त होता है। विकार्य द्रव्य उपादान, निष्पाद्य आकार या स्थिति उसका प्रयोजन। उदाहरण के लिए मेज़ के निर्माण में बढ़ई कर्त्ता है जो काठ के उपादान को

काट-छांट कर प्रयोजन के अनुसार आकार प्रदान करता है। बनने के पहले मेज़ की सत्ता नहीं थी, लकड़ी के अतिरिक्त बढ़ई के मस्तिष्क में मेज़ का रूप एवं मेज़ को बनाने की इच्छा और संकल्प विद्यमान थे। जैसे बढ़ई के हाथ और इन्द्रियाँ उसके साधन हैं, वैसे ही उपकरण भी उसके साधन हैं। विभिन्न कारणों को अरस्तु ने जिन चार विभागों में बाँटा है उनमें तीन सभी द्रव्यों के उत्पादन में पाये जाते हैं। प्रयोजन को कारण के समान ही चेतन कर्त्ता में समाविष्ट किया जा सकता है। अचेतन कारण में प्रयोजन की कल्पना नहीं की जा सकती, बीज से वृक्ष के निकलने में परिवर्तन-परम्परा देखी जा सकती है किन्तु उसमें किसी चेतन कर्त्ता का हाथ अथवा प्रयोजन सिद्ध नहीं किये जा सकते। पानी, मिट्टी, उष्णता आदि के सहयोग से बीज के अवयवों में अन्तर्निहित रचना-शक्ति से परिवर्तन और नयी रूप प्रवृत्ति हो जाती है। यहां प्रश्न हो सकता है कि इस क्रिया में कर्त्ता कौन है? बीज के सूक्ष्म कणों में रचना के नियत संस्कार होते हैं जिनके अनुसार बाहरी मिट्टी आदि के आहार से आवश्यक तत्त्वों की काट-छाँट और एक पूर्वनियत प्रकार से आहारलब्ध तत्त्वों की योजना होने लगती है। इस प्रक्रिया में कर्त्ता कौन है, उपादान क्या है और रचनीय आकार की कल्पना कौन करता है? रचनीय आकार तो बीजगत जातीय संस्कार के वाहक कणों में प्रवृत्ति के नियम के रूप में रहता है। बीज की प्रकृति ही अचेतन रूप से नियत आकार की रचना करती है, इसलिए उसमें ही कर्त्तृत्व मानना चाहिए। बीज जिस भूमि से संयुक्त होकर उसके कणों से पौधे को बनाता है उसे उपादान माना जा सकता है किन्तु यह स्मरणीय है कि पौधे के कलेवर में बीज के कण पृथ्वी के कणों के साथ संश्लिष्ट रूप में मिलते हैं। अत: बीज का कर्त्तृत्व उपादान के अन्दर व्याप्त होकर कार्य करता है। पहाड़ से लुढ़के शिलाखण्ड से मार्ग टूट जाता है। यहाँ कर्त्तृत्व प्रयोजनहीन अचेतन शिला में है, विकार्य, द्रव्य या उपादान और मार्ग है, किन्तु उसमें टूटने की घटना का कोई निश्चित आकार नहीं है। इतना ही निश्चित है कि शिला के आघात से मार्ग के कुछ अवयवों में विसंयोग उत्पन्न हो जाता है।

क्रिया या घटना से केवल नवीन आकार का उत्पादन नहीं होता, वह पूर्व सत्ता का विनाश मात्र हो सकता है। यह विनाशात्मक कार्य किसी रचनीय आकार की अपेक्षा नहीं करता। जब वायु चलती है तो उसके एक भाग की प्रेरणा से दूसरे भाग में गति होती है, एक गतिशील द्रव्य का आघात दूसरे द्रव्य में गति उत्पन्न करता है। यहाँ पिण्ड की गति दूसरे पिण्ड की गति का कारण है, गति की दिशा से ही पता चलता है कि कौन सा पिण्ड कर्त्ता के स्थान में है एवं कौन सा उपादान। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि अरस्तु ने जिस ढंग से कार्य-कारण का विवेचन किया है उसमें मानव-निर्माण को ही प्रतिदर्श के रूप में स्वीकार किया है। वैशेषिक के विश्लेषण में समवाय, असमवाय और निमित्त कारण का भेद अधिक और सूक्ष्म रूप से व्यापक है। इसमें उपादानभूत द्रव्य में विशेष प्रकार के संयोगों की अथवा विभाजन की क्रिया का प्रवर्तन ही कार्य की उत्पत्ति है। इससे

भी सूक्ष्म विश्लेषण बौद्धों का है जो नियत क्रिया-प्रबन्ध को ही कार्य-कारण प्रवाह मानते हैं। एक क्षण की क्रिया दूसरी क्रिया को जन्म देती है। इन दोनों क्रियाओं के बीच किसी प्रकार का अनुवर्तीय द्रव्य आवश्यक नहीं है। ध्वनि के प्रवाह में वायु की तरंगें आगे नहीं बढ़तीं। ध्वनि-रूप ऊर्जा ही गतिशील होती है। अर्थात् एक ध्वनि के अनन्तर उसका संस्कार लिये मन्दतर अन्य ध्वनि उत्पन्न होती है। प्रकाश के प्रसार में किसी प्रकार का द्रव्य या माध्यम नहीं होता, केवल एक प्रकार की ऊर्जा या शक्ति के भिन्न-भिन्न तरंग-कण उपलब्ध होते हैं।

कार्य-कारण भाव में कर्त्ता, उपादान, आकार और प्रयोजन इन सभी की कल्पना अनावश्यक है, जैसेकि असमवायी कारण की। समस्त क्रिया-व्यापार पृथक्-पृथक् क्षणिक क्रियाओं में विभक्त हो सकता है। इन क्रियाओं के आश्रय के रूप में द्रव्य एक अतिरिक्त कल्पना है। जिसे द्रव्य कहते हैं वह घटनात्मक ऊर्जा से अलग नहीं किया जा सकता। जिसकी सत्ता क्षणवत् अल्पकाल में उत्पन्न और नष्ट हो जाती है उसे क्रियात्मक घटना कहना भ्रामक होगा। इस प्रकार कार्य-कारण भाव में यह मानना अनावश्यक है कि कोई पदार्थ रूपान्तर का ग्रहण करता है। निस्सार और अपूर्व घटनाओं का क्रम ही कार्य-कारण भाव के रूप में प्राप्त होता है। इस अवधारणा में दो तत्त्व अनिवार्यतया उपस्थित रहते हैं। एक तो घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध या कालिक क्रम, दूसरा इस क्रम में नियत है कि कौन पूर्व होगा, कौन पश्चात्। पूर्ववर्ती घटना का नियमत: पूर्ववर्ती होना और परवर्ती घटना का नियमत: उससे अव्यवहित रूप से परवर्ती होना उन दोनों घटनाओं का कार्य-कारण भाव है। यहाँ अनेक आपत्तियां की जा सकती हैं कि जब करने वाला ही कोई नहीं है तो क्रिया होगी कैसे? क्रिया को हम कर्त्ता से कैसे अलग कर सकते हैं? ऐसे ही तब किसी द्रव्य में विक्रिया नहीं होगी तो फिर क्रिया किस प्रकार सम्भव है? यदि कारण के बीच कोई अनुवर्ती तत्त्व नहीं है तो उनका सम्बन्ध नियत कैसे होगा? यदि कारण का व्यापार नियत है तो कार्य में भी नियत आकार उत्पन्न होगा। यही नहीं, ऊर्जा और शक्ति को भी द्रव्य से अलग नहीं किया जा सकता। आधुनिक भौतिकी दोनों के बीच एक नियत सम्बन्ध स्थापित करती है।

वस्तुत: बौद्ध दृष्टि के विरुद्ध युक्तियां उस दृष्टि की मूलभूत मान्यताओं को बिसार देती हैं। बौद्ध दृष्टि क्रिया से पृथक् कर्त्ता और धर्मों से पृथक् द्रव्य का अस्तित्व नहीं स्वीकारती, न वह कार्यकारण भाव में किसी प्रकार की ऊर्जा, प्रेरणा या प्रयोजन स्वीकारती है। वह क्रिया को पृथक् क्षणों का क्रम मात्र मानती है। प्रत्येक क्षण को स्वलक्षण की उत्पत्ति और निरन्वय विनाश मात्र मानती है। अस्तु

जहाँ तक कर्त्ता का प्रश्न है, इसकी कल्पना मनुष्य को अपनी इच्छा और संकल्प के अनुसार अपनी देह-संचालन की प्रतीति से होती है। जैसे मेरे हाथ-पैर मेरी इच्छा से चलते हैं, वैसे दूसरे के भी। इस नमूने पर हम मान लेते हैं कि जहाँ कहीं क्रिया होगी वहाँ

कोई कर्त्तृ-शक्ति भी होगी। किन्तु इस प्रतिदर्श का विरोध हमें अपने में ही मिलता है। हमारी बहुत सी क्रियाएं हमारी इच्छा या संकल्प पर निर्भर नहीं करतीं, जैसे सांस लेना या पलक झपकना। इच्छा-निरपेक्ष होने पर भी इन क्रियाओं का प्रवर्तन स्वत: न होकर उनकी पूर्ववर्ती स्थिति और उसकी कल्पित प्रेरणा से होता है। यदि यह पूर्ववर्ती स्थिति नियमत: प्राप्त है, अर्थात् यदि इसके बाद कार्य उत्पन्न होता है और उसके न रहने पर कार्य उत्पन्न नहीं होता, यदि वह आवश्यक और पर्याप्त रूप से पूर्ववर्ती है, तो वही कार्य का कारण है। कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थिर करने के लिए अन्वय और व्यतिरेक की सिद्धि होनी चाहिए। कार्य और कारण के बीच कोई अनुवर्ती द्रव्य या उपादान आवश्यक होने का वाद सब घटना-शृंखलाओं में सिद्ध नहीं होता।

जब एक पिण्ड से टकरा कर दूसरा पिण्ड गतिमान् हो जाता है तो वहाँ दोनों के बीच कोई अनुवर्ती द्रव्य नहीं रहता है। एक द्रव्य में उत्पन्न क्रिया का कारण दूसरे द्रव्य की प्रेरणा हो सकती है। वहाँ पर यह कहा जा सकता है कि प्रेरक और प्रेर्य द्रव्यों में समानधर्मता होनी चाहिए ताकि उनमें संयोग उत्पन्न हो सके। यह मानने पर जहां भी कोई पहले अविद्यमान सत्ता उत्पन्न होती है अथवा विद्यमान वस्तु का परिवर्तन होता है अथवा नाश हो जाता है वहां किसी हेतु की हम अनिवार्यतया कल्पना नहीं करते हैं। कहीं भी कुछ भी हो सकता है, यह बात मानने पर जगत् दुर्बोध और अनुभव आश्वासन-हीन हो जाएगा। हम लोग **एलिस इन वण्डरलैण्ड** में रहने लग जाएंगे। घटनाओं में नियम का अनुसन्धान भी स्वभाव और कार्य-कारण भाव की कल्पना पर आधारित है। इस अनुसन्धान के कुछ अलग-अलग विभाग अनायास देखे जा सकते हैं। पहाड़ से पत्थर गिरते हैं, नदियां बहती हैं, हवा चलती है, दिन-रात एक-दूसरे के बाद घटित होते हैं। भौतिक जगत् की इन प्राकृतिक घटनाओं के कारणों की खोज भौतिकी के अनुसन्धान में होती है। भौतिकी में प्राकृतिक घटनाओं को अणु-संघातों की रीति के रूप में विश्लेषित किया जाता है। परमाणु गतिशील हैं, उत्पत्ति-विनाशशील हैं। संयोग और विभाग के द्वारा वे संघातों को उत्पन्न करते हैं। इन संघातों या पिण्डों के अणुओं के आन्तरिक संचालन से अथवा अन्य पिण्डों और ऊर्जाओं के संयोग से एवं एक सर्वव्यापी गुरुत्वाकर्षण के नियम से गति और परिवर्तन होते रहते हैं। भौतिक जगत् का यह प्राकृतिक कार्य-कारण भाव कार्य के कारणों की नियत पूर्ववर्ती घटना मानकर नियमों की खोज करता है। किन्तु वह गति का मूल या प्रेरणा का स्वरूप क्या है और कार्य के गुण कारणों के गुण से क्यों भिन्न होते हैं, इसका पता नहीं चला सकता। समस्त भौतिक जगत् में सभी स्तरों पर सभी सत्ताओं के बीच परस्पर प्रभावी क्रिया दीखती है। घट को भूतल आकृष्ट करता है, घट के अन्दर मिट्टी के कण एक-दूसरे को आकृष्ट करते हैं, मिट्टी के आधारभूत यौगिक अपने अन्दर अणुओं के आकर्षण से बनते हैं, यौगिकों के मूल में स्थित तत्त्वों के अंग परमाणुओं के आकर्षण एवं विकर्षण पर आश्रित हैं, पृथ्वी सूर्य के आकर्षण में रहती है।

सूर्य एक निहारिका के अन्दर है, निहारिकाएं आकाश में दूर भाग रही हैं। परमाणु से निहारिकाओं तक सर्वत्र गति, उत्पत्ति, विनाश और आकर्षण एवं विकर्षण की लीला दिखायी देती है। इस विराट् हलचल में नियम-शृंखलाएं मिलती हैं। किन्तु गति का मूल कारण क्या है, और नियामक प्रेरणा का स्वरूप क्या है, इसका कुछ पता नहीं।

कार्य-जगत् में बीज से पौधे, नाना प्राणि-जातियां जातीय बीजों से उत्पन्न होती, बढ़ती, मुरझाती और मरती दिखती हैं। प्राणि-जगत् में केवल गति और आघात के वर्णन से कार्य-कारण का वर्णन नहीं हो सकता, न उसमें रासायनिक स्तर के नवीन गुणों की अवधारणा पर्याप्त है। प्राणि-जगत् में जाति-संरक्षणात्मक और लक्ष्योन्मुख चेष्टा दिखायी देती है। मानवीय स्तर पर संकल्प-पूर्वक निर्माण उपलब्ध होता है।

इस प्रकार कार्य-उत्पत्ति के चार विभाग किये जा सकते हैं। पहले में कार्य की उत्पत्ति कारण की प्रेरणा मात्र है। दूसरे में अवयवों के संयोग से अवयवी की उत्पत्ति होती है। तीसरे में जातीय बीजों से स्वतन्त्र और सप्रयोजन गति-चेष्टा से युक्त अवयवी की उत्पत्ति होती है, चौथे में चेतन कर्त्ता के संकल्प से कार्य-उत्पत्ति होती है। इन चार स्तरों पर कार्य-कारण भाव के चार आयाम प्रकट होते हैं। गत्यात्मक घटना में क्रम और प्रेरणा, अवयवी की उत्पत्ति में उपादान की रचना, प्राणी की उत्पत्ति में जातीय संरचना, मानव-कार्यों में चेतना का निर्देशन। इन चारों स्तरों पर कारणों की अनुसन्धान-प्रणाली एक सी नहीं होती। भौतिक तत्त्वों के संयोग से यौगिक अवयवी बनाये जाते हैं और अवयवों के विभाग से भौतिक तत्त्वों के अणु प्राप्त किये जा सकते हैं। प्राणियों का दैहिक विश्लेषण भौतिक-रासायनिक विधियों से किया जा सकता है, किन्तु बिना प्राणि-बीज के प्राणि-सृजन नहीं किया जा सकता। मानव-चेतना से निर्देशित कार्यों का अनुकरण यन्त्र के द्वारा हो सकता है किन्तु स्वतन्त्र प्रज्ञा नहीं उत्पन्न की जा सकती। सभी स्तरों पर कार्य-कारण सम्बन्ध का पूर्वापर-भाव, संयोग-विभाग के द्वारा उपादान की नवीन रचना, प्राणि-चेष्टा और मानव-कार्यों के लिए अपेक्षित सामग्री की खोज की जा सकती है। किन्तु प्रेरणा-शक्ति क्या है, अपूर्व अवयवी के निर्माण में क्या आन्तरिक अनिवार्यता है? प्राणोत्पत्ति का क्या सृजनात्मक आधार है? बुद्धि स्वयंभू रूप से कैसे तत्त्व-दर्शन का हेतु बनती है? प्रेरणा, अपूर्वता, प्राणसृजन, अपूर्व ज्ञान इन सबमें कारण-शक्ति का स्वरूप केवल पूर्वापर सम्बन्ध अथवा उपादान की अनुवृत्ति मात्र से नहीं समझा जा सकता। क्यों एक विशेष क्रम अनिवार्य है? क्यों एक विशेष रचना अपूर्व वस्तु को जन्म देती है? कैसे बुद्धि नवीन उद्भावना कर पाती है? इन प्रश्नों का समाधान अन्वय-व्यतिरेक पर आधारित अनुसन्धान मात्र से नहीं हो सकता। कार्य-कारण का आधार प्रत्येक वस्तु में अन्तर्निहित किन्तु सीमित क्रिया-शक्ति है। कार्य-सत्ता की प्राण-भूत यह क्रिया-शक्ति द्वन्द्वात्मक होने से दुर्बोध है। कोई वस्तु जो है उससे भिन्न कैसे हो सकती है? किसी वस्तु की सत्ता किसी अन्य वस्तु के विनाश की शर्त कैसे हो सकती है? क्रियाशील या

अनित्य होने पर वस्तु की सत्ता स्वयं अपने नाश का हेतु बनती है। सत्ता होने पर क्रिया कैसे होती है, क्रियावान् सत्ता में भाव और अभाव एक साथ कैसे होते हैं? वैसे भी प्रत्येक सीमित भाव में अभाव रहता है। निर्विशेष और निष्क्रिय भाव की कल्पना करने पर उसके साथ सीमित और क्रियाशील सत्ता कैसे जुड़ पायेगी? सापेक्ष और अनित्य सत्ताओं को स्वभाव-शून्य मानने पर जगत् और भी दुर्बोध हो जाएगा।

सत्ता का यह विश्लेषण उसके प्रत्यय की द्वन्द्वात्मक विशादरूपता दिखाता है। क्या यह सत्ता की रहस्यमयता या विचार की पदावली की अनुपयुक्तता के कारण है? यहाँ पर जो पहला विकल्प है उसमें यह विचारणीय है कि क्या सत्ता के प्रत्यय को प्रत्यक्ष विषयों के साथ जोड़ना सही है? पिछले विश्लेषणों में यह मान लिया गया है कि प्रत्यक्ष विषय ही सत्तावान् हैं और यह भी कि विषय ही अस्तित्व से जुड़ सकता है।

ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध के साथ उपस्थित होता है। अर्थात् ज्ञान अपना प्रकाश करते हुए विषय का प्रकाश करता है और विषयी का भी। यह सही है कि ज्ञान के प्रतिपादक वाक्यों में ज्ञान का सदा उल्लेख नहीं किया जाता है, यह भी सही है कि कुछ ज्ञान-प्रतिपादक वाक्य किसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं और उसके ज्ञान का भी उल्लेख करते हैं। 'यह लाल है', यह वाक्य एक वस्तुस्थिति का निरूपण करता है, यह निरूपण एक ज्ञान का विषय हो सकता है, किन्तु यदि निरूपण सही है तो निरूपित अर्थ ज्ञान-निरपेक्ष रूप से भी सत्य होगा। 'यह लाल है' यह ज्ञान तभी सत्य होगा यदि यह लाल है। इस प्रकार वाक्य, उसका अर्थ, वस्तुस्थिति ज्ञान और ज्ञाता एक ऐसी शृंखला में बँधे हैं जिनमें एक ओर वाक्य, अर्थ और वस्तुस्थिति में समानरूपता होती है दूसरी ओर ज्ञान के द्वारा प्रकाशन या निर्धारण होता है, और यह ज्ञान किसी ज्ञाता को होता है। यह कहा जा सकता है कि जैसे वस्तुस्थिति ज्ञान के अधीन नहीं है प्रत्युत ज्ञान की सत्यता-असत्यता वस्तुस्थिति के अधीन है, ऐसे ही ज्ञान किसी ज्ञाता के अधीन नहीं है। एक मानसिक घटना के रूप में ज्ञान अवश्य ही किसी ज्ञाता के इतिहास में घटित होता है, किन्तु उससे ज्ञान का स्वरूप अछूता रहता है। वही ज्ञान अनेक ज्ञाताओं के इतिहास में घटित हो सकता है, जैसे एक ही बिम्ब अनेक दर्पणों में प्रतिबिम्बित हो सकता है। वस्तुस्थिति के अनुरूप ज्ञान और ज्ञान के अनुरूप वाक्य होना चाहिए। कुछ विचारक वाक्य के अर्थ को वस्तुस्थिति और ज्ञान दोनों से अतिरिक्त मानते हैं। वे सम्भवत: अर्थ की इस अवधारणा से उसे मानसिक ज्ञान से स्वतन्त्र पद देना चाहते हैं ताकि विचारणीय विषय के रूप में इन अर्थों का सत्य-निर्णय किसी के मन से कोई सम्बन्ध न रखे। यदि वस्तुस्थिति पृथक्-पृथक् विषयों के नियम-सम्बन्धों से बनी होती और वाक्य के शब्द और योजना इन विषयों और सम्बन्धों को यथावत् निर्देशित कर सकती तो वस्तुस्थिति और वाक्य समानान्तर होते और वाक्य वस्तुस्थिति का प्रतिबिम्ब होता। किन्तु वाक्य मुख्यतया ज्ञान का प्रतिपादक है और

वाक्यार्थ विवक्षा पर निर्भर करता है। यथार्थ की विवक्षा होने पर भी ज्ञान यथार्थ नहीं है तो वाक्यार्थ भी यथार्थ नहीं है, इसका निर्धारण सरल नहीं है।

ज्ञान के द्वारा प्रदर्शित विषय और वस्तुस्थिति की तुलना किस प्रकार की जाएगी? ज्ञान के अतिरिक्त वस्तुस्थिति का प्रकाशन ही नहीं होता। वस्तुस्थिति न अपने को जानती है न बतलाती है। ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न प्राणी ही वस्तु-जगत् के प्रति सचेत होता है और उसे सीमित रूप में पहचानता है। प्राणी जिजीविषा से प्रेरित हो चेष्टारत रहते हैं। इस चेष्टा के सन्दर्भ में उन्हें बाह्य जगत् का या अपने पर्यावरण का ज्ञान होता है। सहज ज्ञान और सहज चेष्टा से प्रवृत्त प्राणिवर्ग के ज्ञान को विषय और विषयी की पारस्परिक क्रिया के रूप में देखा जा सकता है, किन्तु प्रयोजन-सापेक्ष होने के कारण प्राणी और पर्यावरण का सम्बन्ध अचेतन-क्रिया मात्र नहीं माना जा सकता। चेष्टा में कुछ न कुछ ज्ञान अन्तर्निहित रहता है, भले ही वह अव्यक्त हो।

मानव-स्तर पर ज्ञान सहज चेष्टा के सन्दर्भ से वैसे ही मुक्त हो जाता है जैसे मानव-कर्म। सहज प्रवृत्तियां बनी रहती हैं, किन्तु ज्ञान अब निर्वैयक्तिक और तटस्थ रूप से वस्तु-जगत् को उसके शाश्वत रूप में, अर्थात् उसके अनाकस्मिक रूप में देखना चाहता है। ज्ञान का यह आदर्श उसमें अन्तर्निहित होने पर भी वास्तविक ज्ञान व्यक्ति के मन में घटित होकर सत्ता-लाभ करता है। यही नहीं, ज्ञान स्वरूपत: विषयी और विषय को आक्षिप्त करता है। यदि ज्ञान है तो वह किसी के लिए है, और किसी बात का है।

यह कहा जाता है कि ज्ञान के लिए किसी का होना आवश्यक नहीं है, ज्ञान तो विद्या के रूप में नित्य होता है। कोई ज्ञाता न हो तो भी रेखागणित के प्रमेय उपपन्न रहेंगे। उनकी प्रमिति के लिए आदर्श प्रमाता आवश्यक है। प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय इन तीनों को हम अलग नहीं कर सकते, भले ही समस्त प्रमेय की अखण्ड प्रमिति के लिए हम एक आदर्श सर्वज्ञ प्रमाता की कल्पना करें।

अब अस्तित्व का बोध केवल ज्ञान की विषयभूत बाह्य सत्ता तक सीमित नहीं होता, ज्ञान और सत्ता के भी अस्तित्व का बोध होता है। न सब इन्द्रियों के प्रत्यक्ष के ही विषय होते हैं न अस्तित्व केवल विषयों तक सीमित होता है।

अस्तित्व के तीन मौलिक प्रकार तो स्पष्ट हैं–एक तो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के योग्य विषयों अथवा वस्तु का अस्तित्व, जिसे सत्ता कहा जाता है, दूसरे ज्ञान का मानस-प्रत्यक्ष अथवा विकल्प-ज्ञान के विषय का अस्तित्व, जो नाना आकारों से विशेषित होता है, तथा आत्म-ज्ञान के विषयभूत ज्ञान और स्व का अस्तित्व। पहले प्रकार का अस्तित्व या सत्ता ही मूलत: अस्ति पद की वाच्य है। दूसरे प्रकार का अस्तित्व वस्तुत: ज्ञान के प्रदर्शित आकार अथवा तत्त्व से अभिन्न है, इसमें ज्ञायमान् या प्रतीयमान् रूप या तत्त्व में ही अस्तित्व-विश्रान्त है। इसीलिए उसे अस्ति के स्थान पर भाति कहना उपयुक्त होगा।

आत्म-ज्ञान के रूप में जो विषय प्रतीत होते हैं वे विषयी से भिन्न नहीं होते इसलिए उन्हें अस्मिता के प्रकार मानना चाहिए। सत्ता, विषयता और अस्मिता ये तीन अस्तित्व के विलक्षण रूप सिद्ध होते हैं। इनमें भी सत्ता और विषयता में लक्षणगत पार्थक्य होने पर भी परस्पर सापेक्षता है। सत्ता का बोध विषयता के अन्तर्गत आकारों से ही होता है, विषयता के आकार-प्रकार अपने अतिरिक्त धर्मी या विशेष्य के रूप में वस्तु का आक्षेप किये बिना अधूरे रहते हैं। इन दोनों ही पक्षों में विभक्त अस्तित्व में अन्तर्विरोध प्रसक्त होता है इसका ऊपर उल्लेख किया गया है। आत्म-प्रतीति में होने का अर्थ अपरोक्ष रूप से किन्तु निर्विकल्प रूप से अस्तित्व या अस्मिता की प्रतीति होना है। सत्ता ज्ञान की अनुषंगी है, प्रकारात्मकता में अस्तित्व का ज्ञान सम्भाव्यता के रूप में होता है। आत्म-प्रतीति में अन्य सत्ताओं से पृथक् विषय-सत्ता से पृथक् अन्य वस्तुओं की सत्ताओं से पृथक् अपनी विलक्षण सत्ता का बोध होता है और विषयों से पृथक् ज्ञान का बोध होता है। इन दोनों ही प्रकार के भेदों में वस्तुत: एक ही भेद अनुगत है, वह है विषय और विषयी का।

एक मत से विषय और विषयी का भेद सापेक्ष–भूमिकात्मक भेद है, वह अस्तित्व के प्रकार का नहीं। वही व्यक्ति अधिवक्ता बन सकता है वही न्यायाधीश, वही दर्शक, वही अभिनेता। इस प्रकार वही मनुष्य ज्ञान का विषय होता है, वही ज्ञान का विषयी या ज्ञाता। मैं अपने को जानता हूँ और जानना भी चाहता हूँ। इस पर यह आपत्ति हो सकती है कि इन दृष्टान्तों में विषय और विषयी शब्दों का प्रयोग स्थूल रूप से किया जा रहा है, ज्ञान के विशेष सन्दर्भ में नहीं।

ज्ञान जिस वस्तु का धर्म हो सकता है वही यथार्थ में विषयी हो सकता है। अत: अचेतन वस्तु विषयी नहीं हो सकती है। किन्तु क्या वह चेतन के रूप में ही विषय भी हो सकती है? ज्ञान के भौतिक और तात्त्विक विषय अचेतन ही देखे जाते हैं। उनके जो धर्म प्रत्यक्ष-गृहीत होते हैं उनमें रूप-रसादि विशेष गुण और संख्या-आकार आदि साधारण गुणों में कहीं चेतनरूप या ज्ञान नाम का धर्म नहीं होता। इस प्रकार यह कहा जा सकता है क ज्ञान के विषय अचेतन होते हैं और ये अचेतन विषय ज्ञान के विषयी नहीं हो सकते। इस प्रकार विषय-विषयी का भेद एक ही प्रकार की वस्तुओं का प्रकार-भेद नहीं है। विषय और विषयी का भेद अचेतन और चेतन के भेद के साथ रहता है।

चेतन वस्तु की विशेषता है कि उसे अपने अस्तित्व का बोध होता है, अचेतन वस्तु के अस्तित्व का बोध उससे भिन्न वस्तु को होता है। 'मैं हूँ' इस प्रकार की अस्मिता का बोध जिसे होता है वही चेतन-आत्मा विषयी होती है, उसे ही अनात्म वस्तु के अस्तित्व का बोध होता है। विषय और विषयी का भेद क्या आत्यन्तिक है? इस प्रश्न पर संशय और विवाद अनायास रूप से खड़े हो जाते हैं, क्योंकि यद्यपि चेतन और अचेतन, अहम्, और इदम् का भेद प्रत्ययत: नितान्त विविक्त है और इस आधार पर विषयी का भी सार्वत्रिक भेद मानना उचित होगा, तो भी अनुभव में ये दोनों कोटियां समान वस्तुओं में

संश्लिष्ट रूप से उपलब्ध होती हैं। मानव-सत्ता में चैतन्य और जड़ता, अहंता और इदंता दोनों ही एक साथ उपलब्ध होते हैं। जैसे 'राम को यह पता है कि वह श्याम वर्ण है, ऐसे ही सीता को पता है कि वह श्याम वर्ण नहीं है'। मानव-सत्ता में विषयता और विषयिता दोनों एक आधार में होते प्रतीत होते हैं। यहाँ पर दो विकल्प हैं, एक तो यह कि शरीरी मनुष्य ही सम्पूर्ण मनुष्य है और चैतन्य एवं ज्ञान उसके जीवित अवस्था के गुण हैं। ज्ञान को मनुष्य का विशेष गुण माना जा सकता है और तब वह एक प्रकार की भौतिक काया का गुण होगा। घास हरी और एक स्थान पर स्थिर रहती है, उसे भक्षण करती गाय लाल और चलती-फिरती है, गाय को दुहने वाला ग्वाला अपने को भी जानता है और गाय को भी।

इस प्रकार प्राकृत सत्ता अनेक संयुक्त स्तरों पर उपलब्ध होती है–सर्वथा अचेतन, प्राणवान्, अहंता के ज्ञान से युक्त। इन तीन स्तरों पर विषयता के नये-नये आयाम प्रकट होते हैं। इस परीक्षणीय प्रत्यक्ष-गोचर वस्तु-व्यवस्था की ओर आंखें बंद कर केवल स्वगत चेतना के प्रमाण पर चेतन और अचेतन, विषयी और विषय के भेद की आत्यन्तिकता को सिद्धान्तिक करना अथवा अभ्युपगम के रूप में स्वीकार करना क्या न्यायसंगत होगा? इस प्रश्न पर विचार ज्ञान और आत्मा के स्वरूप पर विचार की अपेक्षा रखता है, जो आगे किया जाएगा।

जो बात निर्विवाद है वह यह कि मानव-सत्ता और जड़-सत्ता में एक निश्चित भेद दिखाई देता है। जो वैज्ञानिक दृष्टि मनुष्य को जड़ प्रकृति की प्रसूति ही मानती है वह भी इस बात का निषेध नहीं कर सकती कि मानव-सत्ता में एक विशेष चैतन्य-रूपी गुण है जो उसे अहम्-प्रतीति प्रदान करता हुआ अन्य भौतिक सत्ताओं से विलक्षण बना देता है। मानव-सत्ता की विलक्षणता अनुभव-सिद्ध है। उसे समझने के लिए वे ही ज्ञान की कोटियां या पदार्थ के प्रकार पर्याप्त नहीं है जो प्रकृति की जड़ वस्तुओं के अनुभव पर आधारित हैं। जड़ वस्तुओं में सत्ता प्रत्यक्ष-गोचर नहीं होती, वह उनके गुण और क्रियाओं को देखकर ज्ञात होती है। जैसे दृश्य आभासों के आधार के रूप में द्रव्य की कल्पना होती है, ऐसे ही द्रव्यों में एक व्यापक धर्म के रूप में सत्ता की कल्पना होती है। मानव में अपने अस्तित्व का बोध स्वत: विद्यमान रहता है। यह कहना न्याय-संगत होगा कि अस्तित्व का अर्थ मनुष्य के अहम्-बोध में अपरोक्ष रूप से विदित होता है और इसी बोध के आधार पर विषयों के अस्तित्व की भी कल्पना होती है। अस्तित्व अस्मिता का ही विषयों पर आरोपित धर्म है। अथवा यह कहा जा सकता है कि विषयों में प्रतीयमान् अस्तित्व अपने में प्रतीयमान् अस्तित्व के समान अवधारित होता है। यही कारण है कि बच्चे और आदिमानव प्राकृतिक वस्तुओं को भी अपने समान मानकर उनसे संवाद करते देखे जाते हैं।

जैसे बाहरी जगत् की वस्तुओं के अपने से भेद का परिचय बढ़ता है मनुष्य को यह पता चलता है कि बाहरी वस्तुओं की गति और क्रिया मनुष्य के व्यवहार के समान आत्मबोध और स्वतंत्र संकल्प का परिणाम नहीं है बल्कि निश्चित स्वजातीय स्वभाव से

नियंत्रित होती है। भौतिक वस्तुएं, पौधे और पशु स्वतंत्र संकल्प से कार्य नहीं करते, न उनमें अस्मिता-बोध होता है, यद्यपि पशुओं और पौधों में चेतना या आत्म-चेतना कितनी होती है यह सन्देहात्मक विषय है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मानसिक और बौद्धिक चेतना मनुष्य के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं या प्राणियों में नहीं देखी जाती। अपने अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के व्यापार का मनुष्य नियत कारणों से नियंत्रित कार्य-शृंखला के रूप में अवधारण करता है। इसका परिणाम यह होता है कि मानवीय आत्म-ज्ञान और प्राकृत-विज्ञान में दो नितान्त भिन्न प्रकार की सत्ताएं आलोकित होती हैं। एक ओर कारण-नियत परतंत्र सत्ता है दूसरी ओर आत्मबोध-युक्त स्वतन्त्र सत्ता है। इस द्वैत की स्थिति में अनेक विचारक मानव-सत्ता को भी प्राकृत सत्ता से अभिन्न मानकर उसमें किसी पृथक् आत्मा अथवा स्वतंत्रता के अस्तित्व को नकारते हैं। उनकी दृष्टि से मनुष्य की आत्म-प्रतीति उसकी देहात्म-प्रतीति में नि:शेष हो जाती है और 'मेरा शरीर' आदि वाक्यों में प्रतीति–अतिरिक्त अहम्-प्रत्यय-विषयी एक भ्रान्ति मात्र है। स्वतन्त्रता का आभास भी एक भ्रान्ति है। मनुष्य एक प्राकृतिक प्राणी है जो शब्द-संकेतों का प्रयोग करता है और उसके द्वारा जहां एक ओर प्राकृति को सूक्ष्मता से समझता है वहीं दूसरी ओर अपने विषय में भ्रान्तियाँ पालता है।

इस दृष्टि की चरम परिणति इस स्थापना में होती है कि 'चेतना' नाम के अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना ही मिथ्या है। जो प्रत्यक्ष-गोचर हो सकता है वही वास्तविक है, आत्मा के समान चेतना भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, इसलिए वह भी वास्तविक नहीं है। मनुष्य में चेतना की कल्पना उसी प्रकार भ्रान्त है जैसे बालकों के द्वारा प्रकृति की वस्तुओं में। इस प्रकार की धारणा में चेतना की स्वत:-अपरोक्षता एक अनिवार्य बाधा है। मानव-मन या चेतना का परिचय आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। किसी को भी इस बात पर सन्देह नहीं होता कि उसका मन है और वह चेतन है। अन्यमनस्क व्यक्ति को सामने की घटना का पता नहीं चलता, मूर्छा से उठने पर मनुष्य कहता है कि उसकी चेतना लौट आई, उसके कायिक और वाचिक व्यवहार को देखकर उसके मन का पूरा या सही पता नहीं लगता, उसके सुख-दु:ख को दूसरे सब नहीं पहचान सकते। आपातत: मन या चेतना का अपलाप गजनीमिलिका मात्र है।

चेतना को भौतिक संयोग से उत्पन्न एक अभौतिक पर अनित्य और परतन्त्र पदार्थ मानने का विकल्प अधिक संगत प्रतीत होता है। चेतना को या अहम्-प्रतीति को भ्रान्ति मानने में बहुत-सी आपत्तियां उत्पन्न होती हैं। मेरी चेतना भ्रम है तो उसका विषय असत्य होगा, क्योंकि चेतना का ही विषय होता है और विषय के स्वरूप का पता चेतना से ही चलता है। ज्ञान चेतना की ही वृत्ति है, यदि चेतना है ही नहीं और हमें उसके अस्तित्व का भ्रम होता है तो ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं होगा। चेतना और ज्ञान का निषेध भी ज्ञान है, अत: उनका निषेध अपने ही विरुद्ध है। अतएव न तो यह माना जा सकता है कि चेतना के

अस्तित्व की हमारी चेतना भ्रान्त है, न यह माना जा सकता है कि चेतना मात्र अपने विषय में भ्रान्त है। भ्रान्ति और सत्य चेतना के दो प्रकार हैं। चेतना का अस्तित्व होने पर ही ये पद सार्थक होते हैं। यही नहीं, भ्रम कोई निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। किसी को कहीं कुछ भ्रम होता है, अर्थात् भ्रम का विषयी, विषय और अधिष्ठान इन तीन से सम्बन्ध होता है। चेतना का भ्रम जिसे होगा वह तो स्वयं चेतन होगा। अहम् की प्रतीति तो असंदिग्ध है, इस प्रतीति का विषयी कौन है, क्या वह इदम् स्वरूप है अथवा सब प्रकार की इदंता से भिन्न है, यह सन्देह और विचार का विषय हो सकता है।

चेतना और अहं के प्रतीयमान् अस्तित्व का निषेध सम्भव नहीं। 'मैं एक चेतन सत्ता हूँ और ज्ञान का विषयी हूँ', यह निस्सन्देह है। 'प्राणवान् मनुष्य ज्ञानवान् होता है' यह सब मनुष्यों के लिए अनुभव-सिद्ध है। विवाद चेतना के आश्रय और स्वरूप के विषय में होता है। क्या चेतना जीवित मानव-शरीर का भ्रम है? क्या चेतना स्थायी सत्ता है? क्या वह स्वतंत्र है? क्या ज्ञान का विषयी ज्ञान से और शरीर से पृथक् है? क्या चेतना और ज्ञान ज्ञान के उसी प्रकार के विषय हैं जैसे देह?

मुझे अपनी सत्ता का कैसे और क्या पता चलता है? मुझे अपने शरीर का वैसे ही पता चलता है जैसे बाहरी भौतिक पिण्ड का। मेरे शरीर का यह ज्ञान औरों को भी होता है और उपकरणों से सन्नद्ध आयुर्वैज्ञानिकों को यह ज्ञान मुझ से कहीं अधिक होता है, क्योंकि वे मेरे शरीर के सूक्ष्म अवयवों और व्यापार को जानते समझते हैं। अपने शरीर का वस्तुनिष्ठ ज्ञान अवश्य ही मुझे अन्य द्रष्टाओं से अधिक नहीं है प्रत्युत कम ही है। ऐसा होने पर भी मुझे अपने शरीर का एक प्रकार का ऐसा ज्ञान है जो उसके अन्य द्रष्टाओं को नहीं होता। मुझे शरीर से अभिन्न रूप में सुख-दुःख का अनुभव होता है जो अन्य किसी को नहीं हो सकता। यह कहना श्रद्धेय नहीं है कि मुझे शरीर के दृश्य विकारों के सुख-दुःख का प्रत्यक्ष वैसा ही होता है जैसे औरों को भी हो सकता है। संयमी व्यक्ति के सुख-दुःख का एक मानसिक पक्ष भी होता है। गम्भीर मानसिक दुःख से शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि मेरे और शरीर के बीच में एक विलक्षण सम्बन्ध है। मैं अपने शरीर के सुख-दुःख को अभिन्नतया जानता हूँ, दूसरा कोई नहीं। मेरे मानसिक सुख-दुःख और तज्जन्य शरीर-विकारों को अन्य द्रष्टा उनसे अभिन्नतया पहचानता है। अन्य द्रष्टाओं का मेरे शरीर के विषय में वैसा ही तटस्थ ज्ञान होता है जैसा उन्हें किसी भौतिक पिण्ड का। मुझे अपने शरीर का उनके समान ज्ञान भी होता है और उनसे भिन्न प्रकार का भी। यह भिन्न प्रकार का ज्ञान अभेदात्मक होता है। शरीर न केवल सुख-दुःख के अधिष्ठान के रूप में प्रत्युत मेरे ज्ञान और कर्म की शक्तियों के आधार के रूप में भी विदित होता है। चेतना के सभी आयामों में शरीर की मुझे निरन्तर प्रतीति रहती है, यद्यपि यह प्रतीति बहुधा अव्यक्त या अस्फुट रहती है। यह कहा जा सकता है कि मुझे अपना और अपने शरीर का बोध एक-साथ होता है। शरीर

का बोध न केवल बाहरी विषयों के रूप में अपितु अपने से अभिन्न रूप में भी होता है। इस पर यह सम्भावना सामने आती है कि शरीर ही चेतन-धर्मी विषयी है। वही जानता, करता और भोगता है और उसी में अहं-प्रतीति का आश्रय और पहचान है। मेरी सत्ता और जीवित मानव-शरीर की सत्ता में कोई अन्तर नहीं है।

इस प्रकार की धारणा स्थूल रूप से प्रभावी होते हुए भी विचार के सामने नहीं टिक सकती। देहात्म-बुद्धि देहात्मवाद का सदा आधार रही है, जो प्रत्यक्षवाद और भौतिकवाद में समर्थन प्राप्त करती है। ज्ञान के स्वरूप की मीमांसा और उसके साथ प्रमाण-मीमांसा पीछे की जाएगी, किन्तु यहाँ यह प्रश्न प्रासंगिक है कि क्या अपने अनुभव के विषयी के रूप में मेरा अस्तित्व देह के अस्तित्व से अभिन्न कहा जा सकता है? यदि हम अहं-प्रतीति को देह का ही कादाचित्क या अनित्य धर्म मानें तो यह कहना होगा कि देह के दो अत्यन्त विसदृश धर्म हैं–रूपी और अरूपी। रूपी-धर्म प्रत्यक्ष-योग्य है, अरूपी प्रत्यक्ष के अत्यन्त अयोग्य। सूक्ष्म उपकरणों से स्नायुओं, नाड़ियों और उनकी रासायनिक एवं वैद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा-तरंगों का पता चल सकता है। किन्तु मन, चेतना या ज्ञान का कहीं पता नहीं चलता। चेतनाधर्मी 'स्व' का पता चेतना से लगता है। चेतना किसी अचेतन के धर्म के रूप में ज्ञात नहीं होती। चेतना का पता भी चेतना में ही होता है। इस प्रकार चेतना और चेतना-धर्म इन्द्रिय-गोचर रूपी-धर्मों से नितान्त विलक्षण सिद्ध होते हैं। जीवित मनुष्य के रूप में अपनी चेतना शरीर की चेतना के साथ होती है। चेतना और शरीर एक से नहीं प्रतीत होते हैं। मेरे शरीर में बाल्यकाल से अब तक बहुत परिवर्तन हुए हैं, किन्तु मुझे अपनी मूलभूत चेतना में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। यह सही है कि मूल चेतना के विषय कभी एक से नहीं रहते। वह क्षण-क्षण में नाना संवेदन, स्मृति, सोच-विचार और अन्तर्जल्प और प्रतिबिम्बों के प्रवाह के रूप में बनी रहती है। कभी-कभी मूर्छा या गहरी निद्रा में शून्यवत् या लुप्त हो जाती है। यह भी सही है कि उसे सदा इस शरीर का ज्ञान नहीं रहने पर भी वह स्वप्न में स्वतन्त्र प्रवृत्त होती है, जैसे कभी ध्वनि के बन्द होने पर भी प्रतिध्वनि गूंजती रहती है। इससे दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, एक तो यह कि चेतना का व्यापार जीवित शरीर पर उसी प्रकार निर्भर है जैसे छाया या गूँज अपने हेतुओं पर, दूसरा यह कि चेतना कोई स्थिर पदार्थ नहीं है, वह अपने आश्रय और विषय के अनुसार बदलती है। कभी वह रंग-रूप देखती है आँख के सहारे, कभी ताप-शीत का अनुभव करती है त्वचा के सहारे, कभी गुरुत्व का अनुभव करती है शरीर के सहारे, कभी शब्दों और संकेतों के सहारे तत्त्वों पर विचार करती है। वह सदा ही घटनाओं के प्रवाह के रूप में रहती है। इसलिए बहुत से विचारक चेतना की अनित्यता और परतन्त्रता पर ज़ोर देते हैं। कुछ विचारक इस कारण चेतना के अनुसन्धान को अनेक प्रकार के अचेतन संस्थानों का अनुसन्धान मानते हैं। नाड़ियों और मस्तिष्क का विज्ञान, जैविक रसायन, सांवेदनिक प्रत्यक्ष पर आधारित मनोविज्ञान ज्ञान की तार्किक प्रक्रिया का गणितीय अध्ययन करता

है, जिससे कम्प्यूटरों का निर्माण होता है। इस प्रकार अनेकं विज्ञानों के समवेत प्रयास से चेतना के स्वरूप का रहस्य प्रकाशित करने की चेष्टा निरन्तर अग्रसर है। एक ओर इस बहुआयामी न्युरोसाइन्स से अनेक प्रकार के रोगों पर प्रकाश पड़ा है और उनकी चिकित्सा के लिए रासायनिक औषधि और उनकी चिकित्सा के अद्भुत प्रकारों का आविष्कार हुआ है तो दूसरी ओर कम्प्यूटरों के सहारे अनेक प्रकार के तथाकथित बौद्धिक कार्य अब यन्त्रों के द्वारा किये जा सकते हैं। इससे यह आशा उत्पन्न होती है कि कभी भविष्य में मानव-चेतना पूरी तरह से भौतिक, जैविक प्रतिक्रियाओं में विश्लेषित हो जाएगी और स्वयं-चालित यन्त्र मानव-कार्यों का पूरी तरह से प्रतिरूपण कर पायेंगे। तब यह सिद्ध हो जाएगा कि मनुष्य एक प्रकार का यन्त्र ही है जो भौतिक, जैविक प्रकार से उत्पन्न होता रहा है किन्तु भविष्य में उसकी इस पुरानी जाति का स्थान नये स्वयंसंचालित यंत्र ले लेंगे। प्रकृतिसिद्ध मानव-जाति यन्त्रसिद्ध मानव-जाति से विस्थापित हो जाएगी।

चेतना के इस विश्लेषण में वही कठिनाई है जो बच्चे को नहलाने में पानी के साथ बच्चे को बाहर फेंक देने में होती है। न्यूरोसाइन्स रोगी की चेतना को आरोग्य प्रदान करने में सहायक होती है जैसेकि कम्प्यूटर मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होते हैं। आयुर्वैज्ञानिक चेतना की स्थिति का प्रत्यक्ष से पता नहीं चला सकते, उन्हें मनोरोगी से प्रश्न कर उसकी प्रतिक्रिया का यथावत् पता चलाना पड़ता है। आंखों की परीक्षा से यह नहीं पता चलता कि मनुष्य कितना और कैसा देख रहा है, न कानों की परीक्षा से से सुनाई पड़ती ध्वनियों का पता चलता है। इसी प्रकार मनुष्य क्या सोच रहा है उसका पता मस्तिष्क की परीक्षा से नहीं चलता। यह संशय के योग्य नहीं है कि मानव-चेतना में जिस प्रकार का ज्ञान होता है उसके समान कोई घटना भौतिक-रासायनिक स्तर पर उपलब्ध नहीं होती। भले ही चेतना अनित्य और परतन्त्र घटनाओं का प्रवाह हो, वह स्वत: एक अतीन्द्रिय धर्म है जो विषयों का ज्ञान उपस्थित करती है। ज्ञान को विषयाकार के द्वारा विशेषित करते हुए भी यह निषेध्य नहीं है कि ज्ञान विषयाकार न होकर उसका प्रकाशक होता है। देहाश्रित और विषयाकार होते हुए भी ज्ञान एक पृथक् या विविक्त-धर्म सिद्ध होता है। वह देह के समान इन्द्रिय-गोचर नहीं है न उसमें किसी विषय का आकार ही अपने आकार के रूप में रहता है। ज्ञान अतीन्द्रिय और निराकार होते हुए भी कैसे इन्द्रिय-गोचर सत्ताओं पर निर्भर और उनका प्रकाशक होता है, यह एक असमाहित प्रश्न है।

अपनी सत्ता पर विचार करते हुए मुझे उसकी परिवर्तनशीलता अवश्य दीखती है। चेतना पर ध्यान देने पर उसकी क्षण-क्षण में भिन्नता भी दीखती है। किन्तु मुझे यह भी दीखता है कि मैं इस परिवर्तनशीलता को जानता हूँ। परिवर्तन को जानने वाली चेतना क्या स्वयं परिवर्तित हो सकती है? यह कल्पना की जाने वाली चेतना क्या स्वयं परिवर्तित हो सकती है? यह कल्पना की जा सकती है कि जैसे पिछला धावक अगले धावक को निशान पकड़ा देता है ऐसे ही पूर्व क्षण की चेतना अगले क्षण की चेतना को

अपनी विरासत सौंप कर निवृत्त हो जाती है और इस तरह वही न हो कर उसमें एक प्रवाहात्मक अविच्छिन्नता से तादात्म्य की प्रतीति होती है। जब कभी स्मृति नष्ट हो जाती है तो चेतना को पिछले अनुभवों का ज्ञान नहीं रहता, अर्थात् मेरी चेतना पूर्वकाल से कट कर अलग हो जाती है, वही शरीर रहने पर भी मैं अपनी विखण्डित चेतना का साक्षी नहीं रहता। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि आत्मबोध ही चेतना के प्रवाह के अन्तर्गत एक आयाम है जो अपने आप में एक रिक्त कोष्ठक के समान है। वह चेतना का एक प्रकार है, किसी पृथक् स्थिर सत्ता का प्रमाण नहीं है।

देह से मुक्त स्वतन्त्र चेतना का अस्तित्व है कि नहीं, यदि है तो उसका क्या स्वरूप है? इन प्रश्नों के उत्तर का प्रयास इस समय स्थगित कर इतना ही कहना पर्याप्त है कि चेतना देह से अतिरिक्त नहीं हो सकती, अथवा उसका आभास भ्रान्ति मात्र है, इस प्रकार के निषेधात्मक निर्णय भी नहीं दिये जा सकते। न चेतना के अस्तित्व का अपलाप किया जा सकता है, न उसकी विशेषताओं को किसी देहादिक भौतिक द्रव्य-संघात के अन्य धर्मों में अपचित किया जा सकता है। चेतना का पारमार्थिक स्वरूप अनिर्णीत होते हुए भी यह असंदिग्ध है कि मानव-सत्ता देहाश्रित होते हुए भी चेतना के द्वारा विशिष्ट है। शारीरिक और चैतसिक आयामों में एकसाथ मानव-सत्ता व्याप्त है, अर्थात् मानव-सत्ता एकसाथ ही भौतिक और अभौतिक है। उसके अभौतिक या चैतसिक पक्ष को उसके भौतिक पक्ष में अपचित नहीं किया जा सकता। मानव-सत्ता को एक इकाई मानने पर उसकी प्राकृत सत्ता के परिवेश में स्थिति उससे उन्मग्न है, जैसे पंक में कमल। मानव-सत्ता अपने को पहचानती है, वह प्रकृति की द्रष्टा है, उसकी बुद्धि उन तत्त्वों का ज्ञान करती है जो प्रकृति के नियामक हैं। अनित्य घटना-प्रवाह होते हुए भी नानात्मक चेतना तत्त्वज्ञानी के रूप में नित्यवत् होती है। नाना अनुभवों के संश्लेषण से व्यापकतर ज्ञान को उद्भासित करने की उसकी योग्यता चेतना की अन्तर्निहित अखण्ड अभिमुखीनता प्रकाशित करती है, जो कि सीमित और विच्छिन्न अर्थों में अविच्छिन्नता से सम्बद्धता का सूत्र प्रकट करती है।

मनुष्य न केवल प्राकृत विषयों को जोड़ने वाले नियमों के बोध का समंगी होता है, वह अन्य मनुष्यों के चेतन सत्ता और उनके सम्बन्धों के नियामक तत्त्वों को भी पहचानता है। मनुष्य को न केवल प्राकृत सत्ता का अपितु मानव-सत्ता का भी पृथक् रूप से बोध होता है। प्राकृत सत्ता में परतन्त्रता और घटनात्मक नश्वरता के साथ तात्त्विक समानता का बोध होता है, मानव-सत्ता में स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता के आदर्श के नियमों और आत्मोद्भूत नैतिक नियमों की पहचान होती है। मनुष्य का अपना और अन्य मनुष्यों का बोध नैतिक और सामाजिक बोध के अन्तर्गत होता है। मानवीय निजी बोध और सामाजिक बोध उसके बाह्य प्रकृति के बोध से भिन्न हैं।

मानव-सत्ता बोधमयी है, बोध से परिभाषित है। इस बोधमयी सत्ता की तीन दशाएं हैं–वह निजी सत्ता के प्रति सचेत है, समाज की सत्ता से जुड़ी रहती है, और प्रकृति की सत्ता की द्रष्टा है।

निजी अस्तित्व के बोध में उन सभी कोटियों की संश्लिष्ट प्रतीति रहती है जिन्हें पृथक्-पृथक् बृहदाकार प्रदान करने से भौतिक सत्ता का अवधारण होता है। 'मैं हूँ' में अपने अनुभवों और स्वभाव के कारण अन्य सबसे पृथक् हूँ, क्रियाओं और परिवर्तनों के बीच वही बना रहता हूँ, मैं देह को संचालित करता हूँ और उससे प्रभावित होता हूँ, इस समय यहाँ विद्यमान हूँ इत्यादि प्रकार मेरे अस्तित्व को विशेषित करते हैं, इन्हीं प्रकारों को व्यावर्तित और परावर्तित करके मैं बाहरी जगत् को देखने और समझने के साँचे ढालता हूँ। मेरे अस्तित्व का बोध ही वह माध्यम प्रदान करता है जिसमें मुझे जगत् और समाज का बोध स्पष्ट होता है। एक ओर परतन्त्रता का और विषयाकारों का बोध, दूसरी ओर स्वतन्त्रता और स्व का बोध मुझे अपने अस्तित्व के इस ताने-बाने से बुना हुआ लगता है।

कुछ विचारक परतन्त्रता के पक्ष को मानव-सत्ता और सत्ता मात्र की मूल वास्तविकता मानते हैं। वे मनुष्य को एक संघात मात्र मान कर उसे प्राकृत तत्त्वों में ही अपचित कर देते हैं। चेतना और चैतसिक धर्मों की विशेषता स्वीकार करते हुए भी वे सभी चेतन व्यक्तियों को भौतिक क्रियाओं का परिणाम मानते हैं और इन तात्कालिक वृत्तियों के अतिरिक्त किसी भौतिक सत्ता को नहीं देखते। पाशव चेतना विषय और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न होकर सहज प्रवृत्तियों के वश में चेष्टाओं को जन्म देती है। इसके विपरीत मानव-चेतना धर्म और अधर्म का विवेक भी करती है, वह प्रवृत्ति और स्वार्थ को छोड़कर परार्थ, कर्त्तव्य और निवृत्ति का अनुसन्धान करती है।

मनुष्य के वैज्ञानिक अथवा तात्त्विक (मेटाफिज़िकल) विश्लेषण के प्रसंग में मनुष्य की आत्म-चेतना को अन्यतया विदित अथवा अविदित तत्त्वों में विलीन करना प्रत्यक्ष सत्य से मुख मोड़ना है। मानव के अस्तित्व के विषय में विश्लेषणात्मक उत्साह से विपरीत और एकदेशीय भ्रान्तियां जन्म लेती हैं। मनुष्य को भौतिक तत्त्वों का संघात मात्र मान कर उच्छेदवाद का प्रसंग उत्पन्न होता है। यदि मानव-सत्ता भौतिक सत्ता मात्र है तो मृत्यु से वह नि:शेष हो जाएगी, जैसे जले हुए काठ के पुतले की। यही नहीं, जीवित अवस्था में भी मानव-सत्ता एक यन्त्र के समान ही होगी, जिसका संचालन जैविक संस्कार, पर्यावरण और संस्कारों से नियन्त्रित होगा, भले ही नियन्त्रित करने वाले संस्कारों के विरोध या अपर्याप्तता में वह यादृच्छिक हो। कुछ वैज्ञानिक मनुष्य को ऐसे ही अनियन्त्रित के समान मानते हैं।

उच्छेदवाद जीवन के आध्यात्मिक और नैतिक पहलुओं का आधार मिटा देता है। इसके विपरीत मनुष्य से पृथक् पर उसके जीवन के आधार रूप में एक अतीन्द्रिय अजर और अमर आत्मा की कल्पना उस आत्मा से जीवनधारा को जोड़ नहीं पाती। यदि आत्मा

असंग और निर्विकार है तो उसके होने-न-होने से अनुभव-प्रवाह में कोई अन्तर नहीं आयेगा। यदि आत्मा जीवनधारा की प्रतिभागी है तो वह स्वयं विकारशील होकर अनित्य हो जाएगी। आत्मवाद के ये दोनों ही प्रकार प्रतिपादित हुए हैं। कुछ विचारक मन को आत्मा का ही धर्म मानते हैं, उनके अनुसार आत्मा ही ज्ञान, कर्म और भोग के विषयी के रूप में मानव-अस्तित्व का आन्तरिक पक्ष है। मन उसका अन्तरंग है, शरीर उसका अनिवार्य साधन। शरीर के अभाव में आत्मा अव्यक्त हो जाती है। जिन्हें इस प्रकार की आत्मा की कल्पना केवल मरणोपरान्त नयी देह के द्वारा नये जीवन की आशा के लिए ही स्वीकृत होती है वे वस्तुत: देह की उत्पत्ति के पूर्व आत्मा के अस्तित्व को भी नहीं मान सकते। इस मत में ईश्वर आत्मा की देह के साथ सृष्टि करता है, देह की मृत्यु के अनन्तर अविनष्ट आत्मा को फिर नयी देह से जोड़ना ईश्वर का ही चमत्कारी कार्य हो सकता है। पर तर्क की दृष्टि से यह मत एक ओर आत्मा को शिष्ट पदार्थ मानता है दूसरी ओर अविनाशी। यह एक असंगत बात प्रतीति होती है। वस्तुत: यदि आत्मा नित्य और अविकारी है तो उस असंग आत्मा के साथ देह और मन का सम्बन्ध एक अनादि भ्रान्ति के कारण मानना पड़ता है।

जैसे उच्छेदवाद से नैतिक जीवन के विलोप की विडम्बना पैदा होती है ऐसे ही आत्मवाद से मनुष्य को किसी प्रकार की नैतिक सहायता प्राप्त नहीं होती। आत्मा की अमरता और असंगता मनुष्य की जीवन-निष्ठा को कम कर सकती है, आत्मा की मानवीयता के साथ उसकी अमरता का विश्वास जीवन के तात्कालिक महत्त्व को कम कर सकता है, क्योंकि मनुष्य को अपने ही भरोसे जीना पड़ता है, उसे 'स्व' उत्तीर्ण या 'स्व' व्यापी आत्मा की कल्पना से आन्तरिक तनाव का सामना अवश्य करना पड़ता है, जैसे कोई अपने कन्धे पर अदृश्य भूत बैठाये हो। उच्छेदवाद और आत्मवाद इन दोनों को छोड़ देने पर भी मनुष्य की सत्ता की चेतन मरणशीलता पूर्ववत् बनी रहती है। अन्य भौतिक विषयों के समान मनुष्य उत्पत्ति और विनाशील है, किन्तु चेतन और मृत्यु से डरता हुआ अमरता चाहता है। उसकी चेतन-सत्ता को ही द्रव्य मानकर आत्मा कहते हैं। द्रव्य न मानने पर भी चेतना को अस्तित्ववान् तो मानना ही पड़ेगा। चेतना को देह का स्वरूप या स्पर्श आदि के समान देह का गुण नहीं माना जा सकता। प्राय: देह के अतिरिक्त चित्त या मन को चेतना के आधार रूप में माना जाता है। जिस प्रकार की कठिनाइयां आत्मा के विषय में उठायी गयी हैं वैसी ही चित्त के विषय में उठायी जा सकती हैं। यदि चित्त देह से भिन्न है तो वह देह के लिए अनुपयोगी है, यदि वह देह से अभिन्न है तो उसकी कल्पना व्यर्थ है। वस्तुत: हमको अपनी सत्ता की प्रतीति देह से भेदपूर्वक नहीं होती न पूर्णतया देह से अभेदपूर्वक होती है। हम कहते हैं कि 'हमें चोट लगी है', किन्तु यह भी कि 'हमारे हाथ में चोट लगी है।' हम कहते हैं कि 'हम देखते हैं' किन्तु हम यह भी कहते हैं कि 'हमारी आँखें नहीं देख पाती हैं।' इस तरह के शब्द-प्रयोगों

को मुहावरे का वैचित्र्य कहा जाता है। किन्तु वस्तुत: इन लाक्षणिक प्रयोगों के मूल में हमारी प्रतीति के अन्तर्द्वन्द्व विद्यमान हैं। शरीर के द्वारा हम कार्य करते हैं किन्तु उस कार्य का प्रयोजन शरीर से निर्धारित नहीं होता। कार्य में शरीर का उपयोग उसी प्रकार होता है जैसे उपकरण का। बाहरी उपकरण शरीर से वियुक्त किये जा सकते हैं किन्तु शरीररूपी उपकरण हमसे वियुक्त नहीं किये जा सकते, न हम यह जानते हैं कि हमारी इच्छा शरीर को किस प्रकार संचालित करती है, किस प्रकार इच्छा मात्र से हमारे मस्तिष्क के केन्द्र और नाड़ी-केन्द्र कार्य करने लगते हैं। इन केन्द्रों को यान्त्रिक या रासायनिक रूप से उत्तेजित करने पर हमको इच्छा का अनुभव होने लगता है, जिससे यह अनुमान होता है कि इच्छा हमारा स्वतन्त्र व्यापार नहीं है प्रत्युत शरीर के व्यापार की ही परछाईं है, दूसरी ओर इच्छा की प्रतीति अपने आप में सदा शरीर की प्रतीति से नहीं जुड़ी रहती।

शरीर के साथ हमारा यह भेदाभेद सम्बन्ध, जो हमें चेतन प्रतीति के स्तर पर अपनी सत्ता उपलब्ध कराता है और कर्म और वेदना के स्तर पर हमें शरीर से अभिन्न रूप से जोड़ता है, हमारे विलक्षण मानव-अस्तित्व को परिभाषित करता है। जड़वादी और आत्मवादी दृष्टियां इस अस्तित्व को विखण्डित करने के प्रयास में उनके प्रति अन्याय करती हैं। यह सही है कि शरीर के साथ जुड़े दु:ख और अशक्तियों को दूर करने में जड़वादी दृष्टि से अनुप्राणित चिकित्सा-विज्ञान सहायक होता है किन्तु यह भी सही है कि नये-नये रोग जीवन-शैली से जन्म लेकर फैल रहे हैं और मृत्यु के पूर्ववत् अनियत और अनिवार्य रहने के साथ-साथ अब वृद्धावस्था की सार्थक देख-देख दुष्कर हो गयी है। इस बात की प्रासंगिकता इस कारण है कि जड़वादी दृष्टि मनुष्य के लिए नैतिक संयम और नि:स्वार्थ जीवन की सीख का समर्थन नहीं कर पाती। पूर्ववत् पैसा न कमाने और इन्द्रियों की बढ़ती दुर्बलता के कारण अमरीका और जापान में बूढ़ों की बढ़ती आयु उनके कष्ट भी बढ़ाती है। निष्कर्ष यह कि मानव-अस्तित्व के शारीरिक आयाम का महत्त्व उसके चेतनात्मक आयाम के विकास को सहायता देने में है। शारीरिक विकास और उपयोग को जीवन का केन्द्र बनाने पर अनिवार्य दु:खों और अशक्तियों का सामना करने के लिए मनुष्य के पास कोई सम्बल नहीं बचता।

अनेक संस्कृतियों में शरीर की महत्ता का अत्यधिक विख्यापन किया गया है। व्यायाम, क्रीड़ा, प्रशिक्षण, सौन्दर्य-प्रसाधन आदि का न्यूनाधिक महत्त्व सर्वत्र रहा है। किन्तु 'शरीर धनोत्पादन, युद्ध-विजय और विषय-भोग के लिए ही है', यह दृष्टि सर्वत्र बराबर नहीं रही है। प्राचीन यूनानी सभ्यता में जितना ध्यान मनुष्य की तर्क-बुद्धि पर दिया जाता था उतना ही उसके शरीर-सौष्ठव पर। अरस्तु ने नैतिक गुण अरेते (बराबर ऋतु) की परिभाषा दी है कि वह मनुष्य की सहज योग्यता है और उसका उत्कर्ष ही उसे नैतिक भी बनाता है। मनुष्य का अस्तित्व तर्क-बुद्धि से युक्त सामाजिक पशु होना है।

मनुष्य पशु है, अर्थात् वह सहज प्रवृत्तियों से प्रेरित इन्द्रियों के ज्ञान और कर्म और संवेदनों से युक्त प्राणी है, वह समाज में रह कर ही सुरक्षा, शिक्षा और नैतिक विकास प्राप्त करता है, वह तर्क-बुद्धि से पशु-सुलभ संवेदन-ज्ञान का अतिक्रमण कर तत्त्व-ज्ञान की भूमि में उपनीत होता है। पशुता, सामाजिकता और बौद्धिकता से परिभाषित मानव-अस्तित्व यूनानी दर्शन में अभिषिक्त हुआ। मनुष्य की मरणशीलता, उसके अशेष जीवन की अप्रत्याशित दु:खात्मक घटनाएं और कठोर भाग्य-विपर्यय इन तथ्यों को देखकर उस संस्कृति ने एक असमाहित द्वन्द्व की कल्पना की, बुद्धिजीवी मरणधर्मा मनुष्य, जो अपने विश्व को एक सुघड़ प्रासाद की तरह रचना चाहता है, उसको एक अन्धी नियति पल भर में सब कुछ पलट कर सब कुछ तहस-नहस कर देती है। मानव-अस्तित्व की यह विडम्बना त्रासदी के रूप में प्रदर्शित की जाती है। किन्तु उस दृष्टि में इसका सामना करने के लिए असीम धैर्य मनुष्य के सामने एक मात्र उपाय बचता है। आधुनिक पश्चिमी दृष्टि में उस यूनानी मानववादी दर्शन को दो प्रकार से सँवारने का प्रयत्न किया गया है। व्यक्तिगत जीवन में अतर्क्य नियति को पासों के खेल की तरह सम्भावना-गणित का विषय मानते हुए भी उसने मानव-इतिहास को क्रम में नियन्त्रित कर निश्चित किया है। दूसरी ओर उसने तर्कबुद्धि को प्रयोगात्मक विज्ञान और प्रविधि से जोड़कर प्रकृति-विजय का अभियान किया है। बौद्धिकता की व्याख्या प्रयोगात्मक विज्ञान के द्वारा होती है। अतर्क्य संयोगों को सम्भावनात्मक गणित से आँका जाता है। मृत्यु के बाद परलोक की चिन्ता भूलकर ऐतिहासिक भविष्य के निर्माण की ओर ध्यान दिया जाता है। कर्म के फल के लिए अपना और अगली पीढ़ियों का जीवन देखना पर्याप्त माना जाता है, पाप-पुण्य का आधार परोपकार और पर-पीड़न स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार मानव-अस्तित्व को एकमात्र सार्थक अस्तित्व मानने वाली मानववादी धारणा इन दोनों बुद्धिवादी और विज्ञानवादी विकल्पों में मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से अधिक महत्त्व सामाजिक जीवन को देती है, इसमें परलोक उपेक्षित और इहलोक ही उपास्य है। इसमें सन्देह नहीं है कि यूनानी मानवतावाद देवताओं और परलोक को पूरी तरह से नहीं भुलाता, और न वह इतिहास के दीर्घ अतीत से ही परिचित था। किन्तु उसमें भौतिक सुखवाद को श्लाघ्य नहीं माना जाता था। उसमें तत्त्व-जिज्ञासा और मानवीय सीमाओं का धैर्यपूर्वक सामना करना ही सर्वोपरि मूल्य था। मानवीय अहन्ता और महत्त्वाकांक्षा को मर्यादित करने के लिए उसमें आध्यात्मिक, नैतिक सहारा नहीं है। वैज्ञानिक मानवतावाद में ऐतिहासिक निष्ठा सामाजिक सत्ता को एक गहरा आयाम दे देती है। उसकी ऐहिकता और असीम महत्त्वाकांक्षा उसे पुराने मानवतावाद से अलग करती है। अपनी आत्मा का सौदा कर चमत्कारी सामर्थ्य को प्राप्त करने वाले फाउस्ट के आख्यानों में बहुतों ने इसे सांस्कृतिक चेतना का प्रतिदर्श लक्षित किया है। इस चेतना में भी मानव-अहन्ता असीम की आकांक्षा करती हुई अपने को सीमित अर्थों के संचय और प्रवाह में ही देख पाती है।

मानव-सत्ता का केन्द्र अस्मिता है जो उसे प्राकृत सत्ता से अलग करता है। 'मैं हूँ', का बोध मनुष्य में अनिषेध्य है। 'मैं हूँ, कि नहीं' इस प्रकार का संशय ही 'मैं' की प्रतीति सिद्ध करता है। यही नहीं, 'मैं' का अस्तित्व प्रतीति मात्र को सम्भव बनाने वाला प्राक्-सिद्ध तत्त्व है। ज्ञान और अनुभव के सभी प्राक्-सिद्ध तत्त्वों में अहम् ही सर्वप्रथम है किन्तु अहम् का अस्तित्व प्रतीति-सापेक्षतया 'स्व' प्रकाश है। अर्थात् प्रत्येक प्रतीति में जो 'स्व' संवेदन का भाग है वही अहम्-प्रतीति का आधार है। हम विषयों को जानते हुए अपने अस्तित्व के प्रति सचेत होते हैं। निर्विषय रूप से अहम्-प्रतीति न होने के कारण यह निश्चित नहीं हो पाता कि अस्मिता का कोई विषयातिरिक्त पदार्थ है कि नहीं। ज्ञान के अन्दर विषयी और विषय की दो कोटियां अवश्य हैं, किन्तु क्या वे दो भिन्न सत्ता-कोटियां हैं अथवा नहीं, यह निश्चित नहीं हो पाता। मानव-अस्तित्व एक अदृश्य अहन्ता से संचालित रहता है। इस अहन्ता को शारीरिक तत्त्वों में विभक्त कर नहीं समझा जा सकता है।

जो यह कहा गया है कि इन्द्रियों का प्रतिशरण मन है, वह एक अनुभव-सिद्ध तथ्य का वर्णन है। मन को अन्तर्यक्ष भी कहा गया है। इस बात को कल्पना-विलास कह सकते हैं, किन्तु मन की चमत्कारी शक्तियां विदित हैं, भले ही उन्हें सिद्धान्तों के आग्रह से नकारा जाए। मन की प्रतिभात्मक ज्ञान-शक्ति अपूर्व तत्त्वों का पता लगा लेती है। इस प्रकार के ज्ञान की कोई यान्त्रिकी पद्धति नहीं खोजी जा सकती। अपरिचित विषय तथा दूरस्थ अथवा व्यवहित विषयों को देखने-सुनने की सामर्थ्य कुछ मनुष्यों में देखी जाती है। ऐसे ही अतीत और अनागत के विषय में भी कभी साक्षात् ज्ञान उपलब्ध होता है। संकल्प-शक्ति की महिमा सामान्य जीवन में विदित है, कभी-कभी असाध्य रोग दृढ़ विश्वास या श्रद्धा से ठीक होते देखे जाते हैं। इस प्रकार के उदाहरणों के रहते हुए मन की सत्ता को नकारना एक प्रकार का मतवादी आग्रह है। ऐसे आग्रह का महत्त्व अनुसन्धानोपयोगी प्रणालीगत पूर्व उपगम के रूप में ही अर्थ रखता है। यह सही है कि अहन्ता की प्रतीति और मन के कादाचित्क चमत्कारों की प्रतीति अहम् और मन के स्वरूप को निश्चय से नहीं बताती, किन्तु वह अहन्ता और चेतना के अस्तित्व और सापेक्ष स्वतन्त्रता को अवश्य बताती। जैसे पहले कहा गया था कि मानव-अस्तित्व की सार्थकता और विलक्षणता स्वत:सिद्ध और स्वायत्त है, जो बात संदिग्ध है वह मृत्यु के बाद मनुष्य की नियति है। परलोक, आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व के विषय में मनुष्य सन्देह के घेरे में रहता है। वह बराबर अपनी नैतिक आस्थाओं के लिए दृढ़ आधार ढूंढता है और जीवन की सार्थकता को साध्य-साधन व्यवस्थाओं से परिभाषित करना चाहता है। दृष्ट और अदृष्ट के बीच में हमारा अस्तित्व झूलता रहता है। इस अधूरे ज्ञान की दोला को हठपूर्वक एकांगी निर्णय से सरल नहीं बनाया जा सकता। मानव-अस्तित्व की सबसे बड़ी और अकाट्य विशेषता उसकी नैतिक चेतना है। जैसे प्राकृत सत्ता इन्द्रिय-गोचर

विषय-सत्ता का विस्तार है, मानव-सत्ता विषय-विषयी भाव के अधीन 'स्व-पर' बोध से बनी हुई है। निजी बोध और सामाजिक बोध एक भेदाभेद सम्बन्ध से समवेत है। भेदात्मक आयाम से कर्त्तव्य-बोध उपजता है, अभेद के आयाम से प्रेम, करुणा आदि।

नैतिक चेतना का आधार अपने से अन्य मनुष्यों का अपने सदृश मनुष्यों के रूप में बोध होता है। अन्य मनुष्य का इस प्रकार का बोध ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष मात्र से नहीं होता। अपने मनुष्यत्व-बोध में ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अपरोक्ष आत्मबोध भी सम्मिलित रहता है। ऐसे ही दूसरे के मनुष्यत्व के बोध में भी ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी प्रकार के अन्य बोध को रहना चाहिए। यह बोध अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि यह तात्कालिक और सहज होता है। तो फिर यह किस प्रकार का बोध है? अन्य का अपरोक्ष बोध नहीं हो सकता, क्योंकि उसके ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष की पूर्ववर्तिता आवश्यक है। कुछ विचारकों ने व्यवहार को देखकर उसके मानवीय अर्थ के बोध के लिए एक विशेष प्रकार की अन्तर्बोधात्मक समझ की कल्पना की है। यह युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि मनुष्यता का बोध आचरण की सार्थकता के बोध के साथ हो सकता है और आचरण से इस प्रकार का बोध ऐसे ही होता है जैसे लिखित या सुने हुए शब्दों से, या परिचित चिह्नों से, स्मृति-संश्लिष्ट अर्थ का पता चलता है। ऐसे ही मनुष्य की बोल-चाल से उसके मनुष्यत्व और अभिप्रायों का पता चलता है। कायिक और वाचिक निमित्तों को जो विज्ञप्ति कहा गया है वह एक गम्भीर तत्त्व की सूचना देता है।

बाहरी जगत् में जब एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ नियत सम्बन्ध होता है तो एक दूसरे के अनुमान का साधन बनता है, जैसे धूम अग्नि का। कभी ये सम्बन्ध अनियत होने पर भी उन्हें हम निमित्त या शकुन मान लेते हैं। कभी यह सम्बन्ध किसी अनुभव-सिद्ध रूढ़ि पर निर्भर करता है तो चिह्न-संसृष्ट अर्थ की स्मृति वाचक के पहचानने से उत्पन्न हो जाती है। मानवीय बोल-चाल का मानवीयता के साथ इसी प्रकार का संकेतवत् संसर्ग रहता है। अभ्यस्त मनुष्यों के हम इस आचार-व्यवहार के द्वारा मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचानते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्यता की पहचान उसकी भाषा के प्रयोग से होती है। भाषा चेतना को संप्रेषित करने का मौलिक साधन है। संप्रेषण सामाजिक जीवन का वैसा ही मूलभूत आधार है जैसे सहकारिता या सहानुभूति। यह सुविदित है कि समाज की प्रथम इकाई कुटुम्ब सहज स्नेह, सहानुभूति और ममता के भावों से जुड़ी रहती है। जीवन-निर्वाह के लिए अन्न, वस्त्र, गृहोपकरण और सुरक्षा के लिए परोपकारी कुटुम्बों के गढ़ के रूप में समाज की विस्तृतर इकाई का जन्म होता है।

गण-जीवन का आधार समान प्रयोजनों के लिए परस्पर उपकारिता है। जैसे कुटुम्ब में व्यक्तिगत अहम् के साथ सजातीयता पर आधारित मान्यतामूलक अहन्ता का आयाम जुड़ जाता है, ऐसे ही गण-जीवन में भी अहन्ता का नया आयाम प्राप्त होता है। गणों से

जनपद और राष्ट्र के रूप में समाज का विकास मनुष्य की चेतना में देहाश्रित अभिमान के अतिरिक्त एक औपचारिक या गौण औपचारिक अभिमान की पर्तें जुड़ जाती हैं।

मैं लम्बा, नाटा, मोटा, दुबला, पतला अथवा तीव्र बुद्धि या मन्द बुद्धि नाना अभिलाषाओं से युक्त विषयों का ज्ञाता, कर्मों का कर्त्ता हूँ, इस प्रकार का अभिमान मनुष्य में सहज रूप से विद्यमान रहता है। मैं पिता या पुत्र, अध्यापक या छात्र, राजा या रंक इस प्रकार की असंख्य भूमिकाओं पर आधारित सामाजिक सम्बन्धों और कर्म-विभाजन से निर्धारित अहंकार के आयाम सामाजिक जीवन से जुड़ी चेतना को विशेषित करते हैं। यह कहा जा सकता है कि मानव-चेतना की विशेषताएं सर्वविदित हैं और इनके उल्लेख से मानव-अस्तित्व पर कोई नया प्रकाश नहीं पड़ता। ये विशेषताएं तो यहाँ इसलिए उल्लिखित हैं कि विचार के द्वारा मानव-अस्तित्व के स्वरूप-निर्धारण में उनका मूल्यांकन किया जा सके।

यहाँ पर तीन प्रकार के विरोधी मत सम्भावित हैं। पहला तो यह है कि देहाश्रित नैसर्गिक अहम्-प्रत्यय ही मिथ्या है, अत: सामाजिक अहम्-प्रत्यय एक भ्रान्ति पर आधारित कल्पनाएँ हैं। दूसरा मत यह है कि सामाजिक अहन्ता नैसर्गिक अहन्ता का मानव-विवेक के अनुकूल विकास है। मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है, सामाजिक चेतना के ही उत्तरोत्तर स्तरों में मनुष्य का स्तर विकसित, संस्कृत और सद्गुण-सम्पन्न बनता है। तीसरा मत यह है कि यद्यपि मानव-चेतना सामाजिकता से रूपायित होती है और उसके सामाजिक रूप को अवास्तविक या अनुपयोगी नहीं कहा जा सकता तो भी यह सामाजिक व्यावहारिक अहम् मानव-अस्तित्व को एक भुलावे में रखता है और इसलिए विवेकी जीवन के लिए वह हेय है।

ये तीन विकल्प अहन्ता के विषय में तीन महत्त्वपूर्ण तथ्यों को उजागर करते हैं। पहला मत चेतना और देह के भेदाभेद को स्पष्ट करता है जिसको जड़ और चेतन की ग्रन्थि भी कहा जाता है। दूसरे में चेतना की अन्तर्निहित 'स्व प्रकाशता को' महत्त्व दिया गया है जो कि ज्ञान के स्व-सम्वेदन अथवा साक्षिता में अहं-प्रतीति का आधार स्पष्ट करती है। तीसरे में मानव-अस्तित्व की 'स्व-पर' बोधात्मक सामाजिकता नैतिक नियम की प्रतीति से दीखती है और उसमें विश्व-बन्धुत्व के भाव का बीज भी लक्षित होता है। मानव-अस्तित्व के इन तीन मूलभूत तथ्यों का विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा, किन्तु यहाँ हम उनके द्वारा सत्ता के स्वरूप पर जो प्रकाश पड़ता है उसकी ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि सत्ता केवल प्राकृत सत्ता नहीं हो सकती, वह केवल विषयों का अथवा जड़ वस्तुओं का ही धर्म नहीं है। मानव-सत्ता निर्विवाद है और उसका सार चेतना के बिना दुर्बोध रहता है। चेतना अहं-प्रतीति को आक्षिप्त करती है और मनुष्य में अपने अस्तित्व का बोध नैतिक नियमों के बोध से सम्पृक्त है, जैसे प्रकृति का बोध उसमें व्याप्त स्वभावमूलक नियम-बोध के बिना पूर्ण नहीं हो सकता।

सत्ता के हमने कई पक्षों पर विचार किया है। ये सभी पक्ष एक सीमित रूप में सत्ता को प्रदर्शित करते हैं। सभी रूपों में सत्ता धर्मों से सीमित धर्मी के आयाम के रूप में प्रतीत होती है। प्रत्यक्ष-योग्य सत्ता देश-काल में अवस्थित होती है, इस कारण वह क्रिया और सम्बन्धों से विशेषित होती है। इसको प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि जितने प्राकृतिक द्रव्यसत् पदार्थ हैं उनकी सत्ता का विश्लेषण करने पर वह देश और काल में अवस्थिति से जुड़ा हुआ धर्म ज्ञात होता है। देश और काल दो पृथक् प्रकारक सत्ताएं हैं किन्तु ये दोनों प्रकार स्वतन्त्र या स्वत:संवेद्य नहीं हैं। इन प्रकारों से प्रकाशमान् सत्ता किसी स्वभाव से उपरक्त होती है। यह स्वभाव सामान्य-विशेषात्मक होता है। देश और काल में प्रतीयमान् स्वभाव इन तीनों ही दिशाओं में सीमित होता है। फलत: यह कहा जा सकता है कि प्राकृत सत्ता के तीन अविलग आयाम हैं—देश, काल और स्वभाव। सभी आयामों में प्राकृत सत्ता सापेक्ष और भावाभावात्मक है। एक ओर यह सत्ता सीमित विषय के रूप में प्रतीत होती है, और जहाँ यह प्रतीत होती है उससे अन्य विषयों का आक्षेप करती है, जैसे अन्धकार में चमकता आकार, जिसमें एक और अनेक का समवाय होता है। ऐसे ही विषय-सत्ता विषय-विश्व के खण्ड के रूप में प्रकाशित होती है।

दूसरी ओर यह सत्ता जिन प्रकारों से प्रकाशित होती है वे सब प्रतीति के विषय की भी अपेक्षा रखते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष-गृहीत आकारों के ये प्रत्यय आभासों के समान सर्वथा मनोमय विषयी के सापेक्ष नहीं होते और न बुद्धिमय विषयी के विकल्पों के समान होते हैं तथापि इनमें आभासिकता और विकल्पात्मकता सम्पृक्त पायी जाती है। आभासिक विषय में सत्ता की प्रतीति नियम से सत्य नहीं होती, अर्थात् आभासिक विषय सत् भी हो सकता है असत् भी। उसमें सत्ता के दावे की प्रतीति मात्र होती है, सत्य का निश्चय नहीं। कुछ दार्शनिक इस प्रकार की सत्ता को एक विलक्षण प्रातिभासिक सत्ता का नाम देते हैं। वस्तुत: इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष में स्वयं एक व्याख्या का तत्त्व सम्वेदन में जोड़ती हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि सभी प्रत्यक्षों में इन्द्रियों की सापेक्षता रहती है और इस कारण प्रत्यक्ष सम्वेदन में कभी भी निरपेक्ष यथार्थता नहीं रहती। इन्द्रियों की दशा असामान्य होने पर अथवा उनका विषयों से सन्निकर्ष असामान्य होने पर अथवा प्रत्यक्ष के सहकारियों के असामान्य होने पर अथवा अपव्याख्या के कारण प्रत्यक्ष भी भ्रान्त हो सकता है, किन्तु यह प्रत्यक्ष में प्रदत्त-रूप विषय का विषयी से निर्विकल्पक अपरोक्ष नहीं है। कल्पनामूलक आभास में यह अन्तर नहीं है कि एक का विषय सम्भाव्य मात्र है और दूसरे का सत्य। भ्रान्ति दोनों में ही सम्भव है किन्तु प्रत्यक्ष सम्वेदन का विषय प्रत्यक्ष-कर्त्ता की चेतना का परतन्त्र नहीं होता। दूसरी ओर आभास के विषय का नियामक आभास के विषयी की चेतना में होता है। इस प्रकार आभासिक सत्ता और प्रत्यक्ष-योग्य वस्तु-सत्ता में अन्तर स्पष्ट और व्यवहार के लिए महत्त्वपूर्ण है।

जैसा ऊपर कहा गया है, वस्तु-सत्ता तीन आयामों में प्रकट होती है–देश, काल और स्वभाव। इन दोनों प्रकार की सत्ताओं से विलक्षण उन तत्त्वों की सत्ता है जिनके द्वारा देश, काल और स्वभाव बुद्धिगोचर होते हैं। अपेक्षाबुद्धि के विषय सम्बन्धात्मक हैं। गणित और विज्ञान के सभी नियम इनमें संगृहीत हैं। जो प्रत्यक्ष-ग्राह्य पाँच विशेष गुण हैं वे भी इन्द्रियगोचर तत्त्वों में अभिश्लेष्य हैं किन्तु वे भी इन सामान्य धर्मों से अविलग हैं। जो बुद्धिगोचर तत्त्व हैं वे सामान्यात्मक, अपेक्षात्मक और विकल्पात्मक हैं। इन्हें प्रज्ञप्ति-सत् या विकल्प- सत् कहा गया है। वे वस्तु-सत् पदार्थों के समान अनित्य नहीं हैं न आभासों के समान नियत स्वभाव से रहित हैं। वे विकल्प-चेतना में प्रदत्त लक्षणों और नियमों की वस्तु-नियामकता से प्रतीत होते हैं। आभासों में वास्तविकता नहीं रहती किन्तु ये वस्तु-जगत् के प्रतिबिम्बों को अर्थ-प्रतिबिम्बों से जोड़ कर एक मूल्यवान् प्रतीक-विश्व रच सकते हैं। वस्तु-सत्ता जीवन और व्यवहार की आधारभूत सत्ता है किन्तु वह आवश्यक रूप से अनित्य होती है तथा अपने सम्यक् बोध के लिए तत्त्व-विश्व की अपेक्षा रखती है। बुद्धिगोचर विषय स्वत: सत्तावान् नहीं होते हुए भी स्वत: बोध्य होते हैं। उनके द्वारा ही वास्तविक सत्ता बोध्य बनती है। इस प्रकार सत्ता कहीं भी पूरी तरह से व्यक्त नहीं होती। कहीं उसका आकार आभासित होता है किन्तु स्वरूप संदिग्ध रहता है, कहीं उसकी वास्तविकता की ठोस प्रतीति होते हुए भी उसका स्वरूप अनन्त खोज का विषय बनता है, कहीं वह तत्त्वों के अनन्त विकल्पों में अधूरी या असिद्ध संगति की संहित प्रतीत होती है।

ऊपर कहा गया था कि सत्ता का प्रथम लक्षण ही उसमें चेतना को प्रभावित करने की योग्यता के साथ मानव-चेतना से स्वतन्त्र होना है। चेतना को प्रभावित करने के कारण उन प्रभावों की हेतुभूत सत्ता ज्ञान में विषयतया सम्वेद्य होती है। इस अर्थक्रियाकारी, अभ्रान्त ज्ञान की विषयभूत, मानव-चेतना से स्वतन्त्र सत्ता स्वभावमूलक नियमों से नियत होती है। स्वलक्षण-सामान्य लक्षण से विशेषित यह सत्ता अनिवार्यतया अनित्य घटनात्मक होती है। इसकी नियमवर्तिता तत्त्वबुद्धि की स्वरूपत: सापेक्ष है। अपने कारित्र में मानव-चेतना से स्वतन्त्र होते हुए भी वह स्वरूपत: बुद्धि-सापेक्ष है। मानव-चेतना के संकल्प से उसका स्वभाव नहीं बनता किन्तु मानव-चेतना जिस ज्ञान-शक्ति के स्पर्श से बौद्धिक धरातल पर उपनीत होती है उस प्रज्ञा से प्राकृत सत्ता के घटक लक्षण और नियम स्वतन्त्र नहीं माने जा सकते।

यदि प्रत्यक्ष संवेद्य विषयों के आकार बुद्धि में ही अपनी तात्त्विक संगति और नियामकता पाते हैं तो बुद्धि को भी चेतना से स्वरूपत: अलग नहीं किया जा सकता। चेतना में ही प्रकीर्ण आभासों का अन्विति-सूत्र मिलता है। दूसरी ओर चेतना में कालिकता और अकालिकता दोनों ही अपातत: एकाभासित प्रतीत होते हैं। ये दोनों ही सत्ता के अन्तस्तम सूत्र हैं–कालिकता, जो कि अकालिक नियामकता के अनुसार प्रवाहित होती है उसे सत्ता का इन्द्रियगोचर देशावच्छिन्न रूप कहा जा सकता है। इससे भिन्न मानव-सत्ता

में एक अतिरिक्त आयाम प्रकट होता है जो कि मनोमात्र गोचर है और जिसमें आत्ममूलक नैतिक नियमों का पता चलता है। कालिकता में समान होते हुए भी प्राकृत और मानव-सत्ता में यह भेद है कि मानव-सत्ता का अस्मिता के द्वारा ही ठीक पता चलता है और यह बात स्पष्टतर हो जाती है कि कालिक सत्ता के नियामक तत्त्व जड़ प्रकृति में उद्भूत न होकर चेतना के ही अनेक स्तरों से उद्भूत होते हैं।

क्रमशः

ए-९०, अलकापुरी
भोपाल-४६२०२४

क्या है?, क्या नहीं है? – एक बातचीत

मुकुन्द लाठ

कुछ मित्रों की एक चर्चा-मण्डली के युवा-कम-युवा-युवती सदस्य। चर्चा हर तरह के विषयों पर होती है। पर इधर एक सदस्य, पृथु, पहाड़ों से घूम कर लौटा तो चर्चा ने एक नई दिशा ली।

पृथु : मैं पहाड़ों में अकेला घूम रहा था तो एक दिन विचित्र अनुभव हुआ। अनुभव ने मुझे झकझोर दिया, लगता है मन को ही कहीं भीतर से बदल दिया। एक प्रश्न लिये घूम रहा हूं जो तुम सबके सामने भी रखना चाहता हूं। मैं पहाड़ की एक चोटी पर था। दूर तक घास और चट्टानें। कुछ बादल घूम रहे थे - उजले, सफ़ेद; मैं ऊपर देखने लगा। आकाश नीलम की तरह नीला चमक रहा था, विराट्। और मैं वहां उसके नीचे, उसके बीच, एक छोटा सा तिनका उसकी ओर आँखें पसारे उसे देखे जा रहा था। तभी मन में एक सवाल अचानक जाग उठा। क्या यह आकाश है भी? गायों की तरह आकाश के अनंत में विचरते बादलों के ये टुकड़े, जैसे बेहद्दी मैदान में घूम रहे हों। ये आकाश के आगे क्या हैं? कुछ भी नहीं हैं, भाफ के गोले हैं। भाफ के ऐसे हवाई टुकड़े हैं जो आकाश को और बड़ा, और भी विशाल कर देते हैं। पर कहते हैं कि ये बादल तो हैं, पर आकाश नहीं है। यह घास का मैदान, घास के छोटे छोटे पौधों का ढेर, ये चट्टानें, ये पंख फैलाये हवा में तैरतीं इक्की-दुक्की चीलें, ये भी हैं; यह झीनी-पतली, थमी हुई सी हवा, जो आकाश की तरह मुट्ठी में नहीं आती, यह भी है; पर इन सब कुछ को समेटता, सब कुछ को घर देता, जो कुछ भी है सबको अपने भीतर रखता, सब को होने की जगह देता, सारे ब्रह्माण्ड पर छाया हुआ यह आकाश, यह नहीं है। बस दिखता है, पर है नहीं। दिखता इसलिये है कि किरणों की किसी जादू की छड़ी ने इस पर रंग फेर दिया है – प्रकाश की किसी प्रक्रिया से यह दिन को नीला या साँझ को लाल-पीला हो जाता है, और दिखने लगता है। पर यह है नहीं। पर इसको ''नहीं है'' कहने का क्या अर्थ? इसके बिना कुछ और भी कैसे हो सकता है? जो होता है, इसी में होता है। तो फिर क्या जो कुछ भी होता है, वह नहीं है में होता है? अगर आकाश नहीं है तो यही कहना होगा। तो जो है, उसका होना क्या है? जिसको हम ''है'' कहते हैं, उसको ''है'' क्यों कहते हैं – आकाश को ''नहीं है'' क्यों कहते हैं? क्या है, क्या नहीं है, इस सवाल से बिँधा हुआ घूम रहा हूं मैं।

अनुभूति : आज कैसी बातें कर रहे हो पृथु? पहले से भी बहक गये हो! सबसे बड़ा नहीं – आकाश से भी बड़ा तो तुम्हारा यह प्रश्न ही है। यह सुनने में ही कुछ है, होने में कुछ नहीं? मेरी ओर देखो। मैं हूं न? पर ऐसे देख रहे हो जैसे कुछ नहीं हूं, शून्य हूं –

आकाश। होने-न होने का बेकार सवाल उठाया है। बातों के हेर-फेर से जिसको चाहो ''है'' कह दो, जिसको चाहो ''नहीं''। यों ही तर्क का जंजाल फैलाते हैं विचार में उलझ जानेवाले। मैं तो इतना जानती हूं कि आदमी है, आदमी के रिश्ते हैं, जीवन है, उसका जीना है, उसे कुछ बनाना है। बाकी सब कुछ कोरी बातों की हवा है। तुम्हारा सवाल एक गुब्बार है, आकाश के नीले की तरह एक रंग है, छटा है, पर ''है'' कुछ नहीं – क्योंकि उसका कोई अर्थ नहीं; निकम्मा है तुम्हारा सवाल।

पृथु : पर, अनुभूति, तुम कह रही हो–तुम हो, मैं हूं, मनुष्य है, मनुष्य के सम्बन्ध हैं, जीवन है, जीवन का अर्थ है जिसे साधना है, और वह साधने का काम भी फिर है ही। तुम्हारे लिये यह सब कुछ बिल्कुल है – फिर यह मत कहो कि ''है-नहीं है'' का सवाल ही हवा है। मैं यही तो पूछ रहा हूं कि जो है उसके होने का अर्थ क्या? तुम हो, मैं हूं, मनुष्य है, जीवन है, जीवन को कुछ बनाना भी है, यह सब कुछ है। पर इसे ''है'' कहें और आकाश को ''नहीं है'' कहें, इसका अर्थ क्या? क्या आकाश के बिना ये सब हो सकते हैं? अगर तुम्हारे लिये ''है-नहीं है'' का सवाल ही नहीं है तो क्या मनुष्य को, उसके जीवन को ''नहीं है", शून्य है, कह देना ठीक समझोगी? जब ''है'' और ''नहीं है'' में फ़र्क ही नहीं तो यही मानना होगा! मैं तो तुमसे यह कहना चाहता हूं कि जब से मेरे मन में सवाल जागा है, मैं अपने को उस सवाल के बिना पाता ही नहीं हूं। तुम कहती हो मनुष्य है। मनुष्य है तो यह सवाल भी है ही। मनुष्य सदा यह सवाल उठाता रहा है। सवाल की बेचैनी को, उसकी हैरानी को अब मैं भी समझ रहा हूं – उसे बेकार कह देना आसान है, पर मैं उसे किसी ''नहीं है'' के शून्य में नहीं डाल पा रहा हूं। मैं यों ही बहक नहीं रहा हूं, भावुक नहीं हो रहा हूं। तुम भी अपने भीतर उतर के सोचो तो सवाल को यों ही उड़ा नहीं दोगी। मुझे तो यहां तक लगने लगा है कि यह सवाल है तो मैं हूं।

सिद्धर्षि (जो औरों से कुछ प्रौढ़ है) : ठीक है सवाल पुराना है, और उठता ही रहा है। आज तुमने उठाया तो अच्छा लगा। पर सवाल पुराना है तो इसके जवाब भी पुराने हैं, जवाब के रास्ते बने हुए हैं। हमें उनकी टोह लेनी चाहिये। पर उन रास्तों को अभी छोड़ो। पृथु, तुम्हारी बात को लें। तुम यह कह रहे हो कि और कुछ हो, न हो, तुम्हारा प्रश्न तो है ही! फिर तुम्हारा मन भी है जिसमें यह प्रश्न उठा, नहीं तो प्रश्न कहां है? लगता है, मन के होने से इनकार नहीं किया जा सकता। पर क्यों नहीं किया जा सकता? मुझे कहना यह चाहिये कि *तुम* अपने मन को नकार नहीं सकते। लेकिन *मैं* तुम्हारे मन के होने से इनकार कर सकता हूं। लेकिन इन बातों को अभी छोड़ो। पते की बात जो मैं कहना चाहता हूं वह यह है कि जो भी है वह तुम्हारे, मेरे, सबके लिये होना चाहिये। होने की यह पहली शर्त है। अब तुम्हारे सवाल को लो। मैं मानता हूं कि तुम्हारा सवाल तुम्हारे अकेले का नहीं है, चाहे तुम्हारा मन तुम्हारे अकेले का हो। मैं क्या कह रहा हूं, बात कुछ साफ़ नहीं हो पा रही है, पर जो भी हो, तुम्हारा सवाल सिर्फ़ तुम्हारे भीतर अचानक उठा बगूला नहीं है जो तुम्हें कहीं किसी अजनबी आकाश में उड़ाये लिये जा रहा हो। सवाल सबका है।

(कुछ सोच कर) : पर सवाल क्या सचमुच सबका है? अनुभूति इसके होने से इनकार कर ही रही है। और कुछ लोगों से पूछ कर देख लो तुम्हें पागल ही समझेंगे। अनुभूति अगर तुमको जानती और चाहती नहीं होती, तो वह भी तुम्हें पागल ही समझती। पर सवाल से मैं भी इनकार नहीं कर सकता। पर इतना मानता हूं कि यह ऐसी हैरानी की बात नहीं है, नींद-उड़ाती पहेली नहीं है, जैसी तुम्हें अभी लग रही है। इसका जवाब है, जो हैरानी दूर कर देता है। सवाल चाहे सब न पूछते हों, पर कुछ सदा से पूछते ही आये हैं। मनुष्य के साथ ही जन्मा है सवाल, जैसे मनुष्य के सम्बन्ध मनुष्य के साथ जन्मे हैं। जवाब भी जन्मे ही हैं। सवाल पुराना है तो उस पर विचार का सिलसिला भी पुराना है, हालांकि मेरे सामने नहीं है। मैंने उधर वैसा ध्यान नहीं दिया है। पर चलो हम ही लोग विचार करते हैं! लेकिन एक बात ज़ोर दे कर कहूंगा – प्रश्न उठा है तो प्रश्न पर विचार कुछ करीने से होना चाहिये। विचार पहले व्यवस्था चाहता है तब आगे बढ़ सकता है, यों ही बातों से बात निकलती रहे तो बात नहीं बनेगी। हम लोग बहकने के आदी हैं, पर यहां कुछ संयम चाहिये! कोई व्यवस्थित तरीका होना चाहिये सोचने का! मेरा एक सुझाव है। हम जितने यहां बैठे हैं – अभी चार बैठे हैं – क्यों न हम सब अपनी अपनी एक सूची बनायें कि क्या है? या यों कहो कि क्या क्या है? सोचता हूं ''नहीं है'' का क्या करेंगे? पर मुझे नहीं लगता कि ''नहीं है'' को अलग से गिनाने की ज़रूरत है। ''क्या है'' सामने आ जाये तो ''क्या नहीं है" अपने आप हट जायेगा। ऐसा मुझे साफ़ लग रहा है। पर इस बात पर बाद में सोच सकते हैं। पहले ''क्या है'' की हम सूची तो बनायें! देखें तो कि सबकी सूची में एक-सा क्या क्या निकलता है? होने की एक मूल शर्त ही है कि सबके लिये हो। सूची बन जाने के बाद ही आगे कुछ ढंग की बात निकल सकती है।

(चौथे मित्र, आकाश, की ओर देख कर) आकाश, तुम ऐसे चुप बैठे हो जैसे हमारी इन बातों से कोई वास्ता ही नहीं। तुम कुछ नहीं कहोगे?

आकाश : मैं सुन रहा था। कुछ सोच भी रहा था। पर तुम्हारी ऐसी ऊँची, गहरी बातों में क्या कहता, समझ में नहीं आ रहा था, बीच में कैसे टपक पड़ता? पर, सिद्धर्षि, तुम जो ''क्या है'' की गिनती गिनाने की बात कर रहो वह उलझन में डाल रही है। पृथु के सवाल ने मेरे मन में भी सवाल उठाया है, उसी पर सोच रहा था। मैंने भी कुछ देखा है, और पृथु की बातों से उस पर मेरे मन में भी वैसा ही सवाल उठ रहा है – और, सिद्धर्षि, मैंने जो देखा उसे मैं ''है-नहीं है'' की गिनती में नहीं गिन पा रहा हूं। मेरे मन में कल की पिक्चर दौड़ रही है। पिक्चर अच्छी थी। मनुष्य के सम्बन्ध ही थे, अनुभूति ने जिनकी बात की। जीवन क्या, जीने का रूप क्या, जीने का अर्थ क्या, सुख-दुख राग-विराग क्या – उनकी गति क्या - या यों कहें कि आदमी क्या चीज़ है, उसके विचित्र सम्बन्ध, यही सामने आ रहे थे पिक्चर में। पर पृथु की बात सुन कर एक उलझन खड़ी हो गई है मन में : पिक्चर को क्या कहूं, ''है'' या ''नहीं है" ? दोनों ही कहते नहीं बन रहा मुझसे। उसमें

मैं इतना डूबा था जितना जीवन में कभी ही कहीं डूबता हूं – पर सामने पर्दे पर था क्या? पीछे से फेंका जाता किरणों का जाल ही तो था, जैसा जाल आकाश को बनाता है। पर आकाश को मैं शून्य कह सकता हूं, उसे पिक्चर को नहीं कह सकता। पर उसे वास्तव भी कैसे कह दूं? पृथु, तुमने सवाल उठा कर मुझे ''है-नहीं है'' के बीच बेकार फँसा दिया है। अब सिद्धर्षि की गिनती कैसे गिनाऊँ? चौखट पर ही सवाल टोक देता है। अनुभूति ने जीवन को *है*, बिलकुल *है* कहा। वहां पर्दे पर भी जीवन ही था। रोज़ रोज़ के घिसे-पिटे जीवन से कहीं पैना, कहीं तीखा, चुभता जीवन था। पर वह था क्या? और उसे ''नहीं था'' भी कैसे कहूं? हां-ना के अजीब संकट में हूं।

सिद्धर्षि : ठीक है। पर अभी है और नहीं है के बीच अपने उस पर्दे के जीवन को त्रिशंकु की तरह मत लटका दो। विचार की व्यवस्था में विघ्न मत डालो। मैं समेटना चाह रहा हूं, तुम बिखेर रहे हो। ऐसा तीर चलाया है कि है-नहीं है दोनों के बीच जहां कोई जगह नहीं वहां से साफ़ निकाल देना चाहते हो। क्या दोनों को एक साथ धराशायी करना चाह रहे हो? अब यों तो बात कैसे आगे बढ़ेगी? यह मान लो कि आकाश और पिक्चर दोनों दिखते हैं, पर हैं नहीं। पर ये बातें पीछे होंगी, पहले व्यवस्थित ढंग से चलो। चलो, हम सब ''क्या है'' की अपनी अपनी सूची बनाते हैं – फिर अटपटे सवाल करते रहेंगे – उनके जवाब का भी रास्ता दिखने लगेगा। पहले बात करने की कोई ज़मीन तो बने!

अनुभूति : पर, सिद्धर्षि, बाहर से शुरु करूं या भीतर से?

सिद्धर्षि : क्या मतलब?

अनुभूति : बाहर तुम हो, (इधर-उधर देखते हुए), यह आँगन है, पेड़ है, कुर्सियां हैं, सामने रखे समोसे भी हैं, उनकी सुगंध है, उधर पीछे के घर से किसी के झगड़ने की आवाज़ भी है – और क्या क्या गिनाऊँ, तुम्हीं देख लो! यह सब कुछ तो सभी को दिख रहा है। तो जैसा तुमने कहा, जो सबको दिखता है वह है – पर उसे गिनाना भी क्या? लेकिन भीतर तो मैं ही देख सकती हूं , उसे मैं ही गिना सकती हूं! तुमने कहा भी कि मेरे मन को तो मैं ही जान सकती हूं – पर क्या अगर यह सबको नहीं दिखता तो है भी नहीं? यह बात समझ में नहीं आई। सबको नहीं दिखने का क्या मतलब? अब समोसों की तरह तो मेरा मन तुम्हें नहीं दिख सकता, क्योंकि वह आँखों से दिखने की चीज़ ही नहीं है – बाहर है ही नहीं, भीतर है। पर अगर मैं बताऊं कि उसमें क्या है तो तुम नहीं समझोगे क्या? ऐसा मत कह बैठना। हम दूसरे के मन में क्या है समझते ही हैं – अपने मन की बात कहते हैं, दूसरा समझ जाता है, दूसरे की हम समझ जाते हैं, इसके बिना मनुष्य का जीवन ही कैसा होगा? उसके सम्बन्ध ही क्या होंगे?

(दूसरी मुद्रा में, जैसे बाहर से हट कर) : तो अब सुनो। जो बिल्कुल सामने है वहां से शुरु करती हूं। मेरे भीतर सबसे पहली, सबसे सामने जो चीज़ है वह कुछ कहने की

इच्छा है – भीतर क्या देख रही हूं, यह बताने की इच्छा। पर कुछ गुत्थी सी भी है – क्योंकि मैं यह भी सोच रही हूं कि क्या सोचूं, क्या कहूं, क्या क्या गिनाऊँ? कुछ कुरेद कर भीतर देखती हूं तो सामने की इच्छा के पीछे ही पीछे, जैसे कुछ पर्दे में, न जाने कितनी इच्छायें, यादें, चिन्तायें झलकती सी दिखती हैं। लगता है आगे लाऊँ तो आ सकती हैं। सबको पकड़ पकड़ कर गिनाऊँ क्या?

(कुछ और अपने में खो कर) : पर अब गिनाने की ओर झुकती हूं तो देखती हूं, बहुत कुछ ठीक पकड़ में भी नहीं आता – भीतर के भी भीतर ही घुमड़ता है, हाथ नहीं आता। एक छोटी सी बात को लो जो बिलकुल मेरे सामने है – जो मैं अभी *हूं*। अभी मैं ख़ुश हूं – इस ख़ुशी की तह के नीचे कुछ होगा ज़रूर, ऐसा मन को लगता भी है। पर पूछो कि कैसी ख़ुशी है, किस बात की, उसका रूप क्या, उसका कारण क्या, तो नहीं बता सकती। एक सुरीली लहर सी उठ रही है भीतर, कहो तो उसे भी गिनती में डाल दूं – पर वह मेरी ही समझ में नहीं आ रही कि क्या है? नहीं बता सकती। 'लहर' कह रही हूं, पर 'लहर' कहने से क्या बात बनेगी? 'लहर' तो बाहर ही उठती है। पर भीतर भी उठ ही रही है – तुम में भी कभी उठती ही होगी, तो समझ भी जाओगे। सिद्धर्षि, तुम ही बता दो कि वह क्या है? उसे कहां गिनाऊँ?

(भीतर कुछ और डूब कर) : अब देखो, मैं और ज़ोर दे कर और भी भीतर झाँकने की चेष्टा करती हूं तो कुछ भी नहीं दिखता – लगता है कि कुछ है, पर है या नहीं है, समझ में नहीं आता। बस एक उलझन ज़रूर हाथ आती है कि कुछ है भी या नहीं?

(सिद्धर्षि की ओर देख कर) : मैं सोच रही थी बाहर जो दिख रहा है, सबको दिख रहा है, उसे क्या गिनाना, भीतर क्या है उसे गिनाऊं, जो कि मैं ही देख सकती हूं। पर मुश्किल हो रही है। शायद थोड़ा और गहरा ध्यान लगाना पड़ेगा। (आँख बंद कर के चुप हो जाती है)।

शिखा (वहीं भीतर कुछ कर रही थी, अब सबके पास बाहर आ कर) : मैं सुन रही थी। बड़ी मज़ेदार बातें हो रही हैं। पर मैं भी एक बात कहती हूं। कुछ भी हो या न हो, चाहे बाहर या भीतर, पहली बात यह है कि हम उसको *जानते* हैं या नहीं? अनुभूति भीतर की कुछ बातें क्यों नहीं बता पा रही थी? क्योंकि जान ही नहीं पा रही थी। बात जानने में आ जाती तो बता भी देती। हां, जानने की भी समस्या है। आकाश तो हम सभी जानते हैं, उसे नीला भी सभी जानते हैं। पर वह है या नहीं है, यह समस्या फिर भी रह जाती है। सिद्धर्षि ने कहा कि आकाश दिखता है पर है नहीं। और सबको ही दिखता है। सब उसे जानते हैं। तो मैं समझती हूं कि बात केवल जानने की नहीं है, *सचमुच* जानने की है – केवल जानने में और सचमुच जानने में फ़र्क करना पड़ेगा। तभी ''क्या है'' की गिनती गिनाई जा सकेगी। वरना हम ''क्या है'' की गिनती गिनायें और सचमुच जान कर न गिना पायें तो क्या भरोसा कि गिनती सही है कि नहीं? गिनती में जो नहीं है वह भी आ

समायेगा। ''है'' और ''नहीं है'' के बीच विवेक तो सच्चा ज्ञान ही कर सकता है। नहीं तो जो लग रहा है, दिख रहा है और जो वास्तव में है, उनको एक दूसरे से अलग कैसे करेंगे? जो भी हो, मुझे यही समझ में आ रहा है कि होने और जानने में ऐसा सम्बन्ध होना चाहिये कि अगर हम सचमुच जानते हैं तो जिसे जानते हैं, वही बस ''है''। वह ''नहीं है'' नहीं हो सकता। उसके नहीं होने का प्रश्न ही नहीं। पर प्रश्न है कि सचमुच जानने को कैसे जानें? ज्ञान का प्रमाण क्या? यह उलझन पहले सुलझनी चाहिये। पहले प्रमाण की खोज होनी चाहिये। हम कोई गिनती गिनायें इसके पहले हमारे ज्ञान का प्रमाण क्या? इसे जानना पड़ेगा। या प्रमाण एक से ज़्यादा हों तो प्रमाण क्या क्या, इसकी गिनती बनानी पड़ेगी। पहले यही जाँच होनी चाहिये। नहीं तो हम झूठ का ही पसारा फैलाते रहेंगे।

(कुछ सोच कर) : एक बात सोचो। जानना अपने भीतर ही सच्चे-झूठे की पहचान ढूँढता चलता है। मैं कुछ जानूं कि यह है, तो जानने में ही यह सवाल उठ खड़ा होता है कि मैं सचमुच जान रहा हूं या नहीं – पृथु के साथ और क्या हुआ? वह आकाश को देख रहा है, जान रहा है, जान रहा है कि आकाश है, पर उसका सचमुच नहीं होना नहीं जान रहा। तभी उसके मन में संदेह होता है कि है या नहीं? उसका ज्ञान प्रमाण नहीं है। ज्ञान में अगर प्रमाण हो तो जिसका ज्ञान होगा वह वस्तु भी बिलकुल होगी। मैं तो यही समझती हूं कि अगर हम सच्चे जानने के साथ गिनायें कि क्या है, तो जो भी है अपने आप सामने आ जायेगा – और क्या नहीं है, इसको फिर गिनाने की ज़रूरत ही नहीं रहेगी। आकाश ने जो पिक्चर जैसी चीज़ों के ''है और नहीं है'' के बीच होने की बात की है, वह धोखा है, ''है-नहीं है'' के बीच कुछ नहीं हो सकता। सच्चा, प्रमाण-सिद्ध ज्ञान हो जाये तो वह धोखा अपने आप मिट जायेगा। (सिद्धर्षि की ओर मुड़ कर) : सिद्धर्षि, तुम पूछोगे कि मैं यह सब क्यों कह रही हूं? गिनती क्यों नहीं गिना रही? पर मैं कुछ गिनाऊँ तो सवाल कचोटता है कि मैं सिर्फ़ देख के गिना रही हूं या जान के? दिखने को तो आकाश भी दिखता ही है। पर जान लो तो कुछ नहीं है।

(कुछ झल्लाहट के साथ) पर सच्चा जानना भी एक बखेड़ा ही लगता है – प्रमाण कहां ढूँढते फिरें? वहां बिल्ली बैठी है, उसे देखो। उसके लिये ''है-नहीं है'' का, जानने-नहीं-जानने का कोई बखेड़ा ही नहीं है। पर हमारे लिये भी कोई तरीका तो होगा जो ज्ञान में प्रमाण को ला बिठाता हो! नहीं तो किसी को ज्ञानी क्यों कहते हैं?

पृथु : शिखा, मगर एक बात सोचो। मुझे तो लगता है कि हमारी बिल्ली के लिये ''नहीं है'' का कोई बखेड़ा नहीं है। ''है'' तो उसकी साँस में ही बसा है। उसका उठना-बैठना, चाल-ढाल, उसका हरेक हाव-भाव, चूहे के पीछे दौड़ना, डाल की चिड़िया पर ताक लगाना, यहां तक कि उसका आराम से सो रहना, सब कुछ में एक ''है'' की गूँज बसी है – ''नहीं है'' उसके लिये कुछ नहीं है। पर हमारे लिये ''नहीं है'' के बिना ''है'' की बात ही नहीं हो सकती। शिखा, तुमने अभी जानने की बात कही। पर तुम्हें मानना

पड़ा कि जानने में है और नहीं है के बीच ही लटकते रहते हैं हम – प्रमाण ढूँढते रहते हैं। मैं और क्या कर रहा हूं? हम जानते हैं, तभी तो ''है-नहीं है'' का सिरदर्द भी है। प्रमाण की निरंतर खोज है। बिल्ली को नहीं है, पर उसके लिये जानने-न-जानने का टंटा ही नहीं है। जो जानता है, सच्चे और झूठे जानने में फ़र्क करता ही है। बिल्ली नहीं करती। जानने के साथ नहीं-जानना शरीर-से-जुड़े जुड़वाँ की तरह साथ रहता है – अलग नहीं किया जा सकता। हम कुछ सवाल करते हैं तो कुछ जानते हैं, पर उस जानने पर सोचने लगें तो फिर सवाल कर सकते हैं। जानने के साथ प्रश्न और विचार सदा जुड़े रहते हैं। न हों तो हम सच्चे और झूठे जानने में भेद भी न करें। पर इसके बिना जानने का मतलब ही क्या? हम भी बिल्ली की तरह होंगे। शायद अच्छा ही होगा। पर हैं तो नहीं। *हमारे* जानने में सच और झूठ हमारे जानने के भीतर ही बने रहते हैं - मैं कुछ जान लूं तो जानने में ही पूछ बैठता हूं : सचमुच जाना क्या? और सच्चे-झूठे जानने का बखेड़ा शुरु हो जाता है। अब देखो न, मुझे लगा कि आकाश बिलकुल है, उसके नहीं होने की बात ही नहीं; पर फिर भी सवाल सता रहा है, आकाश है क्या? प्रमाण ढूँढ रहा हूं। हम ज्ञान का प्रमाण ढूँढते ही हैं। पर किस प्रमाण को अंतिम मान पाते हैं? कोई प्रमाण प्रमाण है या नहीं यह सवाल कब ख़त्म होता है?

एक बात और सोचो। जैन कहते हैं कि तीर्थंकर सर्वज्ञ हैं, जो कुछ भी है वे सब कुछ जानते हैं। पर सिद्धर्षि, बताओ, किसी तीर्थंकर ने क्या है, क्या क्या है, इसकी कोई सूची भी छोड़ी है क्या? और मान लो छोड़ी भी हो, तो क्या तुम उसको मान लोगे? यह नहीं पूछोगे प्रमाण क्या? आधार क्या? शिखा की बात से लगता है कि उसके लिये प्रमाण का होना ज्ञान को ऐसा टॉर्च जैसा यंत्र बना देता है कि जिधर भी रोशनी पड़ती है उसमें क्या है यह साफ़ दिख जाता है। शायद तीर्थंकर का ज्ञान कुछ ऐसा ही होता है। शिखा के लिये तो सच्चा जानना इस अद्भुत टॉर्च जैसी बात ही जान पड़ती है। पर ऐसा कोई यंत्र हो भी सकता है क्या? और हो भी तो क्या हम उसके दिखाने पर सवाल नहीं उठा सकते? वह टॉर्च हमारे सवालों का जवाब कैसे देगा? जवाब के लिये प्रमाण क्या बतायेगा? सवालों का जवाब देगा, प्रमाण बतायेगा, तो फिर हम जैसा ही होगा, ''क्या है'' का टॉर्च नहीं होगा। पर शिखा, तुम किसी तीर्थंकर को जानती हो? यदि ज्ञान के किसी अचूक यंत्र तक तुम्हारी पहुँच हो तो उनसे पूछना कि आकाश है या नहीं? मुझे सवाल सता रहा है।

एक बात और कहता हूं। सिद्धर्षि, तुमने कहा था कि आकाश दिखता है पर है नहीं। शिखा सच्चे और झूठे दिखने की बात कर रही है – लगता है कि दिखने और होने के बीच झूठ का आकाश जैसा फैलाव है। तो हम क्यों न कहें कि जो कुछ दिखता है सब झूठ है? बस दिखता है, है नहीं!

आकाश : पृथु, तुम आकाश में ही उलझे हुए हो। आकाश की बात छोड़ो। उस ''है-नहीं है'' बतानेवाले जादुई टॉर्च की भी बात छोड़ो। तुमने सवाल उठाया है कि दिखना - या लगना, या होने का भान होना कहो - यह अगर होना नहीं है तो कुछ भी होने का क्या भरोसा? पर सुनो। एक ''है'' की बात मैं बताता हूं जिसके लिये किसी अचूक यंत्र की भी ज़रूरत नहीं है। *मैं जानता हूं कि मैं हूं* । इस अपने होने को मैं बिलकुल अचूक जानता हूं - मैं अपने को ''नहीं हूं'' कहूं तो इस कहने में भी ''मैं हूं'' ही सामने आता है। मैं ही तो कह रहा हूं कि मैं नहीं हूं! बल्कि अपने को ''नहीं हूं'' कहने में मैं और भी दृढ़ भाव से होता हूं, क्योंकि नहीं हूं का झूठ भी नहीं हूं कहने में पकड़ में आ जाता है। दिख जाता है कि मैं होता हुआ ही अपने आप को नहीं हूं कह रहा हूं।

फिर भी एक उलझन तो है। हम केवल है की नहीं, *क्या* है की बात कर रहे हैं; मैं पूछूं कि मैं *क्या* हूं तो सवाल ही उठते दिखते हैं, जवाब नहीं। मैं अपने आप से पूछता हूं कि मैं क्या हूं, तो चक्कर में पड़ जाता हूं। पृथु ने अभी थोड़ी देर पहले कहा था कि वह एक सवाल हो कर रह गया है – ''आकाश है या नहीं है?'' मैं सोचने लगा कि क्या मैं यह सवाल ही हूं कि मैं क्या हूं? पर इस सवाल को अपने से अलग देखता हूं तभी उस पर कुछ सोच सकता हूं। तो क्या मैं अपना सोचना हूं? पर मैं अपना सोचना भी नहीं हूं, क्योंकि मैं अपने सोचने को भी अपने से अलग देखता हूं। तो मैं हूं तो सही, पर मेरा सवाल, मेरा सोचना, ये मैं नहीं हूं। इन्हें मैं देखता हूं, और जो कुछ भी देखता हूं, उसे अपने से अलग पाता हूं, नहीं तो उसे देखता ही कैसे हूं?

(उलझन में) : फिर भी *तुम* पूछो कि मैं कौन हूं तो अपने शरीर को दिखा दूंगा। और मैं अपना शरीर हूं भी। मैं नहीं कह सकता कि मेरा शरीर मैं नहीं हूं – शरीर को कुछ हो जाये तो दुख मैं ही पाऊँगा – दूसरा तो नहीं पायेगा। पर मैं अपने को अपने शरीर से अलग भी पाता हूं – उसे मैं अपने से अलग देख सकता हूं। *तुम* भी नहीं कहोगे कि मैं मेरा शरीर ही हूं। तुम मेरे शरीर को ही देख रहे हो, मुझे नहीं, पर तुम भी मुझे मेरा शरीर नहीं समझते। हम बातें कर रहे हैं, विचार कर रहे हैं, तो मेरा ही नहीं हम सब का होना शरीर से अलग ही है। मैं अभी सोच रहा हूं, कुछ कह रहा हूं, तो अपने लिये भी अपना शरीर नहीं हूं। तुम्हारे साथ भी यही बात है। विचार के साथ तो यह बात और भी साफ़ है। हम विचार कर रहे हैं, पर हम विचार नहीं हैं – विचार करते हुए ही हम विचार से अलग हो कर विचार करते हैं, लगता है कि विचार भी अपने को देखता हुआ ही आगे बढ़ता है। यों विचार करने में ही हम विचार से अलग होते हैं। और यों भी, विचार से कभी भी निकल जा सकते हैं – शरीर से नहीं निकल सकते। हालांकि यह बात कहते हुए ही मैं शरीर से बाहर हूं। पर, फिर, सवाल और तीखा हो जाता है : तो मैं *क्या* हूं?"मैं हूं'' का एक नि:संदेह आश्वासन भर हूं? या एक देखना हूं जो अपने को देख कर बता नहीं सकता कि क्या हूं?

सिद्धर्षि, तुमने हमसे "क्या क्या है'' की सूची बनाने को कहा है। सूची पर मैं सोच रहा हूं, पर कैसे बनेगी यह सूची यह मेरी ठीक समझ में नहीं आ रहा है। पर इतनी बात पक्की है कि और कुछ हो या नहीं हो, मैं तो हूं। इसके लिये कहीं से कोई प्रमाण भी नहीं चाहिये – बस अपनी ओर देखने की ज़रूरत है। तुम भी चाहो तो देख लो, तुम अपने होने से इनकार नहीं कर सकते – कोई भी नहीं कर सकता। हम सब का ''अपना होना'' संदेह से बाहर है। सोचो तो विचित्र सी बात है – मैं अपने मैं से इनकार नहीं कर सकूं, यह तो समझ में आता है, पर मैं यह भी उतने ही भरोसे से जान रहा हूं कि तुम भी अपने मैं से इनकार नहीं कर पाओगे, हालांकि मैं तुम्हारे मैं को उस तरह भीतर से जान ही नहीं सकता जैसे कि अपने मैं को जानता हूं। फिर भी इसमें मुझे संदेह नहीं कि जैसे मैं अपने को मैं कहता हूं, तुम भी अपने को वैसे ही मैं कहते हो। मैं तुम पर बीती किसी बात का वर्णन तुम्हारी तरफ से कर सकता हूं, और तब ''मैं'' का प्रयोग अपने लिये नहीं, तुम्हारे लिये कर सकता हूं। किसी को समझने में कोई मुश्किल नहीं होगी। क्यों? क्योंकि सब जानते हैं कि सबमें मैं का बोध है। अब, अगर हम सभी ''मैं'' हैं तो फिर तुम्हीं बताओ मैं क्या हूं - या तुम क्या हो? पृथु, तुमने यह ''क्या है'' का बेढब सवाल पूछ के अजीब भूलभुलैया में डाल दिया है, जिसके भीतर से अब निकलने का रास्ता ही नहीं दिख रहा है। अगर मैं यही नहीं समझ सकता कि मैं क्या हूं, तो मैं और कुछ के होने या नहीं होने को क्या ख़ाक समझूंगा?

(लगता है, आकाश अभी और कुछ नहीं कहेगा, पर एक क्षण बाद ही कहता है) : अनुभूति, यह तो साफ़ ही है कि मैं भी ''क्या है'' की सूची को बाहर से नहीं, भीतर से शुरु करने के पक्ष में हूं। पर मुझे तो सूची का किनारा ही नहीं मिल रहा है! मैं हूं, यह मेरी सूची में सबसे ऊपर आयेगा, पर मैं *क्या* हूं, यह समझ में नहीं आता तो उसे सूची में किन चीज़ों के साथ रखूंगा? उसे सब कुछ से बिलकुल अलग ही रखना पड़ेगा। पर शायद मैं यह कह सकता हूं कि मैं वैसा ही मैं हूं जैसे तुम भी अपने भीतर से मैं हो। यों सूची में ''मनुष्य'' की एक अलग गिनती हो जायेगी। सब मनुष्य अपने भीतर झाँक कर देख सकते हैं कि ''मैं हूं"। ''मैं क्या हूं'' का यही लक्षण समझ में आ रहा है मुझे – ''मैं मनुष्य हूं"। पर इससे होता यही लगता है कि ''मैं क्या हूं'' की हैरानी मुझको ही नहीं हम सब को अपने घेर में ले लेती है। अब कोई पूछे कि यह बिल्ली क्या है, तो पहली बात यही होगी यह और बिल्लियों में एक बिल्ली है – और यह सुखी है कि इसे ''मैं क्या हूं'' का सवाल नहीं सताता। बिल्ली से हम पूछ नहीं सकते कि तू क्या है? वह ऐसे उलटे चक्कर में पड़ी ही नहीं होगी। पड़ ही नहीं सकती। पर मैं अजीब सा घूम रहा हूं चक्कर में। मुझे यह तो बिलकुल दिख रहा है कि मेरा मैं एक देखता हुआ मैं है, पर वह बस देखता है, और जिसे भी देखता है, अपने से अलग पाता है। अपने शरीर को भी, अपनी इच्छाओं को भी, अपने सोचने को भी। पर तुम कहो कि यह सब कौन कह रहा है, तो मैं

कहूंगा कि *मैं* कह रहा हूं। बातचीत आगे चलेगी तो तुम कुछ और कहोगे, और मैं तुम्हारी बात पर फिर कुछ अपनी बात कहूंगा जो तुमसे अलग होगी, या मैं तुम्हारी बात मान भी लूंगा तो *मैं* मानूंगा। मेरे अपने सोचने के भीतर से मानूंगा मैं। तो, मैं अपने सोचने को अपने से अलग *देख* सकता हूं, पर पाता अपने को उसी में हूं, उससे अलग नहीं। अनुभूति, तुमने 'भीतर क्या क्या है' गिनाने की बात पर सोचने की नहीं, इच्छाओं, चिन्ताओं की बात की। मैं भी इनकी बात करना चाहता हूं। तुमने कहा कि अपनी इच्छा, चिन्ता, तुम ही गिना सकती हो, पर तुम यह भी जानती हो कि ये तुममें ही नहीं हैं, सबमें हैं – इच्छा, चिन्ता सबको होती है, नहीं तो इनके गिनाने का कोई अर्थ ही नहीं होगा। कौन समझेगा तुम्हारी बात? क्या समझेगा? लेकिन ख़ास बात यह है कि *तुम्हारी* इच्छा *क्या* है, चिन्ता *क्या* है, यह *तुम* ही गिना सकती हो। क्योंकि वह *तुम्हारी* इच्छा है, *तुम्हारी* चिन्ता है जो मेरी इच्छा, चिन्ता से अलग है। तभी तुम ही अपनी इच्छा को देख कर बता सकती हो कि क्या है, और तभी तुम्हीं इन्हें गिना सकती हो। मैं भी अपनी इच्छा, चिन्ता गिना सकता हूं, क्योंकि मैं ही देख सकता हूं ये क्या हैं। मैं इन्हें अपने विचार की तरह अपने से अलग देख सकता हूं, और मैं ही बता सकता हूं कि मेरा विचार क्या है। इच्छा, चिन्ता की तरह विचार तो सब में ही होता है, पर ये *क्या* हैं, वही बता सकता है जिनमें ये हों। पर मैं अपने विचार को अलग खड़ा देखता हुआ भी उससे अलग नहीं हो पाता हूं।

(कुछ सोच कर) पर क्या हम अपनी इच्छाओं, चिन्ताओं से भी सचमुच अलग होते हैं? ठीक है, मैं अपनी इच्छा को देख सकता हूं – अगर देखना चाहूं – और मैं बता सकता हूं कि इच्छा *क्या* है – पर मैं अपने को उस इच्छा से अलग भी नहीं कर पाता। मुझसे बाहर वह पेड़ है, उसे भी मैं देखता हूं, पर उसमें एक बात है जो इच्छा में नहीं है। पेड़ को सभी देख सकते हैं कि वह ''पेड़ है''। सब की तरह मैं भी देखता हूं कि पेड़ है। बल्कि, सब की तरह ही नहीं सब में एक हो कर ही मैं पेड़ को ''पेड़'' कहता हूं। मुझसे कोई पूछे कि ''वह क्या है?'' और मैं कहूं ''पेड़ है'' पर दूसरे उसे कुछ और ही बतायें तो मुझे अपने देखने पर संदेह होगा, सबके देखने पर नहीं। पर मेरी *इच्छा* क्या चाहती है, उसका विषय क्या है, वह किस बारे में है, यह मैं ही बता सकता हूं। मैं ही उसे देख सकता हूं, दूसरा नहीं। पर मैं उसे देख सकता हूं तो उससे मैं अपने को एकदम से अलग भी पाता हूं। पर वैसा नहीं जैसा पेड़ से अपने को अलग पाता हूं। इच्छा को मैं देखता हुआ भी अपने आप को इच्छा में ही पाता हूं। जैसे अपने को अपने विचार में पाता हूं। विचार से भी कहीं ज़्यादा अपने को इच्छा में पाता हूं। इच्छा से अलग ''उस इच्छा को देखता हुआ मैं'', यह ''मैं'' कहां है, उसकी तो कोई ख़बर कहीं पाता ही नहीं हूं। इच्छा में रहता हूं तो उसे ढूँढता भी नहीं हूं – इच्छा ही होता हूं। यह ठीक है कि इच्छा *मेरी* है तो मुझसे अलग भी है, जैसे यह मेरा पाजामा। पर पाजामे से मैं अलग हूं, इच्छा से नहीं। क्योंकि वह मुझसे अलग है तो है कहां? मुझमें ही तो है! क्या मुझमें कोई आकाश है

जिसमें वह लावारिस तैरती है? या मैं ही कोई आकाश हूं जो उसके होने की जगह है? पर वह मेरे भीतर, मेरी अपनी ही नहीं है, *वही* मुझे चलाती भी है। जैसे बिल्ली की इच्छा बिल्ली को चलाती है। फ़र्क यह है कि मैं उसे देख सकता हूं, बिल्ली अपनी इच्छा को देखती नहीं है – बस इच्छा से चलती है, इच्छा ही होती है। पर मैं भी इच्छा को देखने से उससे अलग नहीं हो जाता हूं। मैं भी उसीसे से चलता हूं, वहीं हूं।

मेरी बातें अपने आप को ही काट रही हैं, पर मैं भी उनके साथ ही विचित्र दुविधा में बँटा जा रहा हूं – कभी कुछ कह देता हूं, कभी कुछ, - इच्छा हूं भी, नहीं भी। हूं- नहीं हूं के बीच झूल रहा हूं। पर क्या करूं, किसी त्रिशंकु को अपने ही भीतर पा रहा हूं। घोर उलझन में हूं। मैं अपनी इच्छा को देखता हूं तो अपने को उससे अलग पाता हूं। पर फिर भी उससे अलग *हो* नहीं पाता हूं – उससे अलग अपने को कुछ नहीं पाता।

(सिद्धर्षि की ओर देख कर) मैं बहुत बातूनी हो रहा हूं, तुम्हें कुछ कहने नहीं दे रहा। तुम कुछ कहने को आतुर लग रहे हो। हमारे भटकाव से हटा कर हमें रास्ते पर लाना चाहते हो। पर मैं एक बात और कहूंगा। अनुभूति ने सही पकड़ा कि बाहर की और भीतर की बात एकदम से अलग है। बाहर मैं जो कुछ भी देखता हूं - यह पेड़, यह समोसा, उसमें *मैं* नहीं हूं, उसमें हम सब कोई नहीं हैं, तभी सभी बताते हैं कि वह क्या है। पर भीतर मैं जो देखता हूं, उसमें होता भी हूं। क्यों? मुझे लगता है इसलिये कि बाहर मैं आँख से देखता हूं, कान से सुनता हूं, नाक से सूँघता हूं, हाथ से छूता हूं – ये इन्द्रियां मुझे बाहर की ख़बर देती हैं। ये मेरे और बाहर के बीच बिचौलियों का काम करती हैं। बाहर को मैं वैसे सीधा नहीं जानता जैसे अपने भीतर को जानता हूं – शायद तभी बाहर कुछ देख कर मुझे ऐसा नहीं लगता कि यही मैं हूं – जैसे कि इच्छा के साथ लगता है। इच्छा, चिन्ता, और विचार भी, भीतर की ये चीज़ें तो मुझसे चिपकी ही रहती हैं, इनमें ही किसी न किसी में अपने को पाता हूं। (सिद्धर्षि की ओर देख कर) क्यों सिद्धर्षि, क्या भीतर भी कोई इन्द्रिय होती है?

सिद्धर्षि : इन्द्रिय की बात तुमने अच्छी कही। मैं कहने ही वाला था। हमें इन्द्रियों से ही बात शुरु करनी चाहिये थी। क्या है की बात हो या उसके ज्ञान की, या ज्ञान के प्रमाण की, सब की कुंजी इन्द्रियों में है। भीतर कोई इन्द्रिय है या नहीं, यह अभी रहने दो, भीतर की बात ही रहने दो, जंजाल है; भीतर इन्द्रिय होने का अनुमान किया जा सकता है, नहीं तो इच्छा आदि को हम जानते कैसे हैं?

अनुभूति (जैसे सिद्धर्षि की बात आधे कान से सुन रही हो; उसे बात पूरी नहीं करने देती; आकाश की ओर देख कर उससे कहती है) : आकाश, मैं इच्छा को देखती हुई भी अपनी इच्छा में होती हूं, ठीक है, पर कई बार लगता है कि ऐसी इच्छा होनी नहीं चाहिये। एक मेरे रिश्तेदार हैं, बहुत करीब हैं मुझसे, बहुत करते हैं मेरा, वे ही हैं मेरे, मुझे सँभालते हैं। पर बहुत सताते भी हैं। मैं जो चाहती हूं, मेरी बिलकुल भीतर की, अंतरात्मा

की इच्छा, मेरी मचलती हुई हूक, उसे पूरा करने नहीं देते। कुचल देते हैं। कई बार उन पर इतना ग़ुस्सा आता है कि मन करता है, कुछ कर बैठूं। गला ही घोट दूं – छोटे से, बूढ़े से तो हैं, यूं चुटकी में मसल दूं तो समझ लो, गये। पर फिर कुछ शान्त हो कर मन कहता है, ऐसी इच्छा होनी नहीं चाहिये।

यह कैसी बात है? जो है उसे होना नहीं चाहिये, तो उसका होना ही फिर कैसा है? और मैं अगर अपनी इच्छा में ही होती हूं – जैसा कि लगता ही है – तो मैं क्यों सोचती हूं कि यह इच्छा नहीं होनी चाहिये? क्या मैं वह भी हूं जो मुझे नहीं होना चाहिये? कहते हुए अजीब लग रहा है, पर और क्या कहूं? या शायद यों कहना ज़्यादा सही लगता है कि मैं वह नहीं हूं जो मुझे होना चाहिये। या मैं वही हूं जो मुझे होना चाहिये, पर अपने उस सच्चे होने में हो नहीं पाती हूं। जो मैं हूं, पर मुझे नहीं होना चाहिये, वह मेरी *सच्चाई* नहीं है, मेरा *वास्तव* होना नहीं है। मेरा जो होना *है*, वह झूठा है, उसको ''है'' कहूं या ''नहीं'', समझ में नहीं आता। तुम ही बताओ सिद्धर्षि!

सिद्धर्षि : तुम सब के सब मिल कर है-नहीं है की पहेली में बात को बुरी तरह फँसाते जा रहे हो। यों तो कोई ठोस बात कैसे बन सकती है? हम किसी ठोस बात पर टिक कर आगे चर्चा करें तो पहले इन्द्रियों से शुरु करना चाहिये। हम सबको इन्द्रियों से जो दिखता है, वह है। आकाश ने ठीक कहा कि पेड़ सबको पेड़ दिखता है – क्योंकि सबकी इन्द्रियां सबको वही दिखाती हैं। इन्द्रियों का जगत् सबके लिये एक है। वही हमारा जगत् है – हम सब का जगत्। जो कुछ सचमुच है, उसी में है, और वह सबके लिये समान है, सबकी इन्द्रियों के सामने है। उसमें क्या क्या है, इसकी सूची बनाने में किसी को मुश्किल नहीं होनी चाहिये। तभी मैंने कहा कि वहां से शुरु करें। तुम कहो तो मैं ही शुरु करता हूं।

(फिर कुछ सोच कर) : पर शुरु करने से पहले एक जड़ की बात सामने आ रही है : यह कि एक एक चीज़ नहीं गिनाई जा सकती। यह पेड़ है, उधर पीछे पड़ोस का पेड़ है... वहां दूर जंगल भर के पेड़ हैं - यों तो सूची बन ही नहीं सकेगी। सूची में कुछ श्रेणियां बनानी पड़ेंगी, जिन में चीज़ों को डाला जाये – क्या है, क्या क्या है की श्रेणियां समझो। जैसा सूचियों में होता है। कई तरह की चीज़ों को गिनाने के लिये हम श्रेणियां बनाते ही हैं, वैसी ही एक श्रेणियों की सूची समझो। पहले वही सूची बनानी पड़ेगी। श्रेणियों की सूची। अब गिनाते हुए सोच रहा हूं तो यह बात समझ में आ रही है। तो चलो हम लोग सब पहले श्रेणियां क्या क्या हों, इसकी सूची बनाते हैं।

पृथु : पर श्रेणियां तो इन्द्रियों से दिखती नहीं हैं – उनका क्या आधार होगा? और फिर श्रेणियों को भी हम ''हैं'' कहेंगे या नहीं? वे ''है'' की श्रेणियां हैं तो जो भी कुछ ''है'' वह तो श्रेणियों में आ जायेगा, फिर श्रेणियां कहां आयेंगी? श्रेणियां अपने ही भीतर तो नहीं आ सकतीं। मान लो कोई पेड़ों की, या उससे भी बड़ी, वनस्पतियों की श्रेणी

बनाये, वह श्रेणी तो पेड़ या वनस्पति नहीं होगी। सारी श्रेणियां ''है'' के सारे पसारे के बाहर ही रहेंगी। यह समस्या तो है ही कि क्या श्रेणियां बनें, पर हम जो भी श्रेणियां बनायेंगे, उन्हें ''नहीं हैं'' कैसे कह सकेंगे? तो क्या उन्हें ''हैं'' और ''नहीं हैं'' के बीच झुलायेंगे? पर ऐसा करें तो फिर उनके भीतर आने वाली चीज़ों का क्या होगा? श्रेणियों का होना अगर संदेह से घिर जाये तो फिर श्रेणियों में आनेवाली चीज़ों का क्या होगा? वे श्रेणी से बाहर हो कर फिर बिखर नहीं जायेंगी क्या? पर श्रेणियों को अगर किसी तरह ''है'' के पेटे में समा भी दिया जाये तो फिर श्रेणियों की क्या अलग श्रेणी नहीं बनानी होगी? वह अलग श्रेणी क्या एक ही बनेगी या उसमें प्रकार-भेद करने होंगे? समझ में नहीं आता। पर जो भी रास्ता निकले, श्रेणियां तो फिर इन्द्रियों की पहुँच से बहुत दूर जा छिटकेंगी।

पर असल समस्या - या समस्यायें - जो मुझे सूझ रही है बताता हूं। बात यह है कि हम ''है'' की श्रेणियां बनायेंगे तो जो कुछ भी है उसे अलग से देखते हुए, अलग करते हुए बनायेंगे। श्रेणियां हमारे देखने की आधार बनेंगी। हमारा देखना श्रेणियों से बाहर ही रहेगा - चाहे हम श्रेणियों की भी श्रेणी या श्रेणियां बनायें तो भी हमारा उन्हें देखना उनसे बाहर ही रहेगा। असल सवाल होगा कि हमारा देखना ''है'' कि नहीं? उसे भी हम ''है'' कह सकते हैं, क्योंकि अपने देखने को हम देखते हैं। उसका होना इतना पक्का है कि उसके होने पर हम संदेह नहीं कर सकते। बाहर की दूसरी चीज़ें, जिन्हें हम देखने का विषय बनाते हैं, उन पर हम संदेह कर सकते हैं, लेकिन अपने देखने पर नहीं। पर क्या हमारे देखने का होना और जो हमें दिखता है – देखने का विषय – इन दोनों का होना एक सा होता है? लगता तो नहीं है! जो दिखता है वह नहीं भी हो सकता है, पर देखने के होने से हम इनकार नहीं कर सकते। आकाश ने कहा था कि हम अपने होने को ''नहीं है'' कहें तो उसका होना इस इनकार के भीतर से ही और दृढ़ हो कर उभरता है। हमारे देखने के साथ भी यही बात है। हम अपने देखने को देख कर ही कह सकते हैं कि नहीं है, पर इस इनकार में साफ़ ही ''है'' छुपा हुआ है। कुछ भी है या नहीं, यह कौन बताता है? हमारा देखना ही तो बताता है! वह अपने ही आप को ''नहीं है'' कहे तो क्या बिना हुए कहेगा? पर हमारे देखने में एक बड़ी विचित्र बात है। हम देखने को देखते हैं, फिर देखने की सीढ़ी चढ़ कर देखने के देखने को भी देखते हैं और यों अनंत सीढ़ियां चढ़ते चले जा सकते हैं – सीढ़ी कहीं पहुँच कर ठहरती नहीं दिखती। पर एक अजीब बात यह भी है कि हर ऊपर का देखना अपने निचले देखने के होने से इनकार तो नहीं कर सकता, लेकिन फिर भी उससे यह कह सकता है कि ''तुम्हें जो दिखा वह ठीक नहीं था, जो नहीं है उसे तुमने है कह दिया"। आकाश के ''मैं हूं'' को ही फिर से लो। मैं अपने को देख रहा हूं, अपने से उपर उठ कर देख रहा हूं, तभी तो कह रहा हूं कि ''मैं हूं''! पर मैं अपने को देखते हुए यह भी तो कह सकता हूं कि मैं वह नहीं हूं जो मैं दिख रहा हूं – जब अपने पर शर्म आती है तो यही कहता हूं। या मैं कह सकता हूं कि मैं वह नहीं हूं जो मुझे होना चाहिये - यह तो मैं कहता ही रहता हूं। अब इससे इतना तो होता ही है कि मेरा होना वैसा

विशुद्ध होना नहीं रह जाता जैसा लग सकता है। पर इस सब कुछ की जड़ इस बात में है कि हमारा देखना अपने आप को देखता चलता है। अब ऐसे में साफ़ है कि श्रेणी बनाने का काम घोर उलझन में फँस जा सकता है।

पर इन बातों को छोड़ो, एक और बात और सुनो। मैं एक एक फूल तो गिना सकता हूं, पर तीन या दो फूलों को जोड़ कर एक गुलदस्ता बनाऊँ तो दो से मिल कर एक तीसरी चीज़ बन जाती है, इसको कैसे गिनाऊँगा? इसको कलाकृति कह लो। क्या कलाकृतियों की अलग श्रेणी होगी? पर एक समस्या पहले ही दिख रही है मुझे। हम बाहर-भीतर को अलग देख रहे थे। तुम इन्द्रियों से बाहर की चीज़ें पहले गिनाने की बात कर रहे हो। यों भी इन्द्रियां तो बाहर ही देखती हैं, भीतर हम जिससे भी देखते हों। पर मुझे कलाकृति में बाहर-भीतर का फ़र्क ही दुविधा में पड़ता दिखता है – कलाकृति चाहे बाहर ही रहती हो, पर बिना कल्पना के बनती नहीं दिखती। अब कल्पना तो भीतर ही होती है। और कल्पना ही क्यों? हम जानने की बात कर रहे थे, जिसके बिना होने की बात नहीं हो सकती। जानना भी तो भीतर ही होता है। और अगर हम इन्द्रियों से जानते हैं तो क्या इन्द्रियां बाहर और भीतर के बीच कहीं आकाश में टँगी रहती हैं? पर ऐसा कुछ हो ही क्या सकता है जो बाहर-भीतर दोनों के बीच हो? अगर हो तो है-नहीं है के भी बीच नहीं होगा क्या? पर कलाकृति इन्द्रियों की तरह नहीं होती, वह बाहर ही रहती है, पर बाहर रहती हुई भी अपने होने में भीतर की होती है – भीतर की प्रेरणा से बाहर रूप लेती है – हम उसे रूप देते हैं। पर इन्द्रियों का होना बड़ा अटपटा है। इन्द्रियां बाहर ही देखती हैं, भीतर नहीं, और फिर इन्द्रियां अपने आप को नहीं देखतीं, इसलिये उन्हें जानने की - ज्ञान की – तरह भीतर की चीज़ भी नहीं कह सकते। ज्ञान में इन्द्रियों को इतना तूल देना समझ में नहीं आता – इन्द्रियों को तो अपना ही ज्ञान नहीं होता।

(कुछ रुक कर) पर मैं आकाश को नहीं छोड़ना चाहता। मेरे मन में आकाश ही घूम रहा है। सिद्धर्षि, तुम कह रहे थे कि हम इन्द्रियों-से-दिखती चीज़ों की सूची बनायें, ऐसी चीज़ों की जो सबको दिखती हैं। चलो हम ऐसा ही करें और यह न पूछें कि इन्द्रियों का अपना होना कैसा है, कहां है, तो भी पहला ही नाम आकाश का आयेगा। आकाश तो आँखों से दिखता ही है, और सबको दिखता है – जिसको न दिखे, हम समझेंगे उसकी आँख में कुछ गड़बड़ है। तो फिर हम कैसे कहते हैं कि आकाश दिखता है, पर है नहीं? यों तो फिर हर चीज़ के बारे में कहा जा सकता है कि दिखती है, पर है नहीं। सारे संसार के बारे में कहा जा सकता है।

और यह भी सोचो कि सारा देखना क्या एक सा होता है - चाहे इन्द्रियों से ही होता हो? फूलों को अलग अलग देखना और उन्हें गुलदस्ते के रूप में एक-हुआ देखना, ये दोनों आँख से ही देखे जाते हैं पर एक नहीं होते। कलाकृति को भी हम देखते हैं, आदमी को भी देखते हैं, पर इनका देखना ही अलग होता है। लकड़ी पर घुन लग जाये तो

लीकमकोवे से उभर आते हैं, जिनको घुणाक्षर कहते हैं – पर क्या हम उनको और भाषा के अक्षरों को एक ही आँख से देखते हैं? घुणाक्षर कुछ नहीं कहते, भाषा के अक्षर बाहर लीकमकोवों से मिलते हैं, पर भीतर अर्थ का भंडार खोल देते हैं। आकाश अभी कह ही रहा था कि मनुष्य का होना ही अलग है। ठीक ही कह रहा था। तुम कहोगे कि मनुष्य जैसा बाहर से, आँखों से दिखता है, उसके उस दिखते-हुए रूप को देख कर हम उसे मनुष्य नहीं कहते, उसके बारे में जो जानते-समझते हैं, उसे देखने के साथ जोड़ कर उसे मनुष्य कहते हैं। भाषा के अक्षर भी हम जान कर ही पहचानते हैं। काम यहां अकेली इन्द्रिय का नहीं है। बुद्धि का भी है। पर पेड़ को ''पेड़'' कहने में बुद्धि का काम नहीं है क्या? इन्द्रिय कहां ''पेड़'' कहती है? इन्द्रिय तो रंग-रूप देखती है, कुछ खुरदरा छूती है। अलग इन्द्रियां देखती, छूती हैं – एक ही चीज़ को देख-छू रही हैं, यह भी इन्द्रियों को कैसे पता? केवल देख-छू कर हम कह ही नहीं सकते कि ''पेड़'' है। ''पेड़'' कहने में एक बड़ी अजीब बात होती है। ज़रा सोच कर देखो : ''पेड़'' तो उसी पेड़ का नाम नहीं जिसे हम देख-छू रहे हैं – पेड़ तो सभी पेड़ों का नाम है - उनका भी जो अब नहीं रहे और उनका भी जो अभी नहीं हुए हैं। उनको तो हम देख-छू नहीं रहे हैं, न देख-छू सकते हैं। पर पूछो कि यह *क्या* है जिसे मैं देख-छू रहा हूं तो ''पेड़'' के सिवा क्या कहूंगा? या ''अमलतास का पेड़'' कहूंगा, या ''अनजाना पेड़'' कहूंगा – या ऐसा ही कुछ कहूंगा - पर ये तो पेड़ ही हैं; ''पेड़", इस शब्द का कहना ही हमें, हम जो देख-छू रहे हैं उससे अलग ही अनदेखे के विस्तार में ले जाता है - पर इसके बिना हम जिसे देख-छू रहे हैं, उसे क्या कहेंगे? उसे जानेंगे ही कैसे? हमारे ''क्या है'' का जवाब ''पेड़'' ही होगा, हमारा देखा-छुआ नहीं। हमारा देखा-छुआ तो गूंगा है, और उसका नाम ''पेड़", यह नाम सारी बात को, देखे-छुए को भी, देखे-छुए के ''अभी'' और ''यहां'' से निकाल कर भूत और भविष्य के अनंत काल में ले जाता है – विशेष से निकाल कर सामान्य में ले जाता है। क्योंकि कुछ ''विशेष'' है, ''अभी'' है, और ''यहां"है - ये भी इन्द्रिय की पकड़ में कहां? ये भी तो सामान्य ही हैं। यह पेड़ ही नहीं, कुछ भी ''विशेष", ''अभी'' और ''यहां'' हो सकता है – कहीं भी कभी भी हो सकता है। सिद्धर्षि, तुमने जैसे ही श्रेणियां बनाने की बात की, इन्द्रियों को तो पहले ही दूर अलग हटा कर रख दिया। तुम अब बुद्धि को प्रमाण बना रहे हो चाहे बात इन्द्रिय की कर रहे हो। और तुम बात अब सामान्य की कर रहे हो जो इन्द्रिय की पकड़ से बाहर है। श्रेणियां तो सामान्य ही होंगी। श्रेणियां बनाने की समस्या भी बुद्धि की होगी, सामान्य को बुद्धि ही पकड़ती है, इन्द्रियों का श्रेणी बनाने में क्या काम? होगा भी तो बुद्धि की देख-रेख में ही होगा।

आकाश : पृथु, तुमने बहुत सारी अलग अलग बातें एक साथ कह डालीं। एक एक बात को लो। आकाश को ''नहीं है'' क्यों कहते हैं, मैं बताता हूं। हम पेंसिल पानी में डालते हैं तो टेढ़ी दिखती है, सबको टेढ़ी दिखती है, पर हम जानते हैं कि टेढ़ी है नहीं, टेढ़ी

होने का भ्रम है – हम सब देख चुके हैं इस बात को, सब जानते हैं। अब, इसे इन्द्रिय की नहीं बुद्धि की बात कह लो। बुद्धि ही की बात है, पर इन्द्रिय को साक्षी रख के – छू कर देखो तो पेंसिल टेढ़ी नहीं होगी। होता यह है कि पानी में किरणें अलग कोण बना कर घुसती हैं, इसलिये पेंसिल भी वहीं एक ओर मुड़ी सी दिखती है। अकाश का रंग भी यों ही किरणों का खेल है। वायुमंडल के अणुओं पर गिरती किरणें कुछ टेढ़ी हो कर आगे बढ़ती हैं, उनकी तरंग का दैर्घ्य – वेव-लेंग्थ – बदलता है, और हमारी आँखों में रंग का रूप ले लेता है – आकाश ''दिखने'' लगता है। पर इससे आकाश कुछ ''हो'' नहीं जाता।

शिखा : पर आकाश, पानी में आधी-घुसी पेंसिल को तो हम छू कर जाँच सकते हैं – मैं, तुम, हम सब छू कर देख सकते हैं कि पेंसिल कहीं से टेढ़ी ''है'' नहीं, बस दिख रही है। तुमने यही तो कहा। सिद्धर्षि इन्द्रिय-प्रमाण की बात कर रहा है। यहां इन्द्रिय-प्रमाण की बात साफ़ है। एक इन्द्रिय की ग़लती दूसरी सुधार देती है। चलो, बुद्धि के सहारे ही सही, पर बिना इन्द्रिय के बात नहीं बनती। पर आकाश के नीले दिखने में आँख की ग़लती कौन सुधारता है? तुम कहोगे बुद्धि अकेली यह काम करती है। पर मैं समझती हूं वहां भी इन्द्रियों के साक्षी होने की बात की जा सकती है। हम पाते क्या हैं? आँख के सिवा कोई भी इन्द्रिय आकाश को सूंघती, छूती, सुनती नहीं है। तो, आँख के देखने को समर्थन नहीं मिलता। इसीलिये हम कहते है कि आकाश का दिखना भी धोखा है। एक इन्द्रिय के ज्ञान को दूसरी का सहारा चाहिये, नहीं तो प्रमाण नहीं बनता। तुम आकाश, अणु और प्रकाश की बात बताते हुए आकाश के दिखने का वह कारण जता रहे हो जो वैज्ञानिक जताते हैं। पर आज के विज्ञान के पहले भी तो लोग जानते थे कि आकाश दिखता है पर है नहीं। इसीलिये न कि उसे हम सूंघ नहीं सकते, छू नहीं सकते, सुन नहीं सकते! चखने का तो सवाल ही नहीं। एक इन्द्रिय जो जाने, उसके लिये दूसरी प्रमाण नहीं हो तो हमारा जानना ठीक जानना नहीं होता। मैं जो सच्चे और झूठे ज्ञान में सही विवेक की बात कर रही थी उसका एक सूत्र देखो अभी मिल गया। इन्द्रिय और बुद्धि दोनों मिल कर सच्चे ज्ञान का रूप खड़ा करते हैं। पृथु, तुम जो बुद्धि के जानने को सामान्य और इन्द्रिय के जानने को विशेष बता रहे थे वह ठीक है, पर सामान्य विशेष की ही ज़मीन पर बन सकता है, नहीं तो क्या होगा? तुम्हारे उस आकाश की तरह ही कुछ नहीं, कोरा शून्य।

पृथु : शिखा, तुम ठीक कह रही हो, पर मैं आकाश के होने को उसके देखने के साथ जोड़ना नहीं चाहता। छू पाने, सूंघ पाने के साथ भी नहीं जोड़ना चाहता। यह ठीक है कि उस दिन का देखना मेरे मन में ऐसी हैरानी जगा गया जो आज और बढ़ गई है और सभी कुछ को घेर रही है - आकाश है या नहीं है का सवाल अब *वास्तव* होने-नहीं होने का सवाल बन रहा है। और सच पूछो तो मेरा अचम्भा यह नहीं है कि आकाश दिखता कैसे है? मैं जानता हूं वह दिखता कैसे है। मैं जानता हूं कि उसका *दिखना* आँखों का

धोखा हो सकता है, क्योंकि वह और किसी भी इन्द्रिय के हाथ नहीं आता। लेकिन यही तो अचम्भा है – कि वह बस आँखों के ही हाथ आता है, किसी और इन्द्रिय की पकड़ से बाहर ही रहता है। पर फिर भी मैं कहूंगा कि वह है। क्योंकि जब मैं ''आकाश'' कहता हूं तो मेरा मतलब केवल उस ऊपर दिखते आसमान से नहीं है जिसका नीला दिखना धोखा हो सकता है। पर उसका *दिखना* तो उसके विस्तार को छोटा ही कर देता है – उसका नीलापन, जो दिखता है, उसके विराट् रूप पर पर्दा ही डालता है, उसके अनंत प्रसार को छुपाता है, दिखाता नहीं है। वास्तव में आकाश *अवकाश* है, और सब जगह है। उसका दिखना उसके होने के लिये बिलकुल ज़रूरी नहीं है। जो नहीं देख पाता उसके लिये भी वह है ही। हम सब की तरह वह भी उसका अनुभव करता है। हम सब बैठे हैं, हमारे बीच भी अवकाश है। मेरे ही दोनों हाथों, दोनों पाँवों, शरीर के अंगों के बीच है – न हो तो मेरे शरीर में न अलग अंग होंगे, न मैं कहीं आ-जा सकूंगा – न कुछ देखूंगा, न कुछ करूंगा, न छुऊँगा, न सूंघूँगा । अहिल्या की तरह पत्थर हो जाऊँगा। इस अवकाश को आकाश कहना शायद ठीक नहीं, यह बात मैं समझ रहा हूं। तो चलो इसे देश कहो। पर सोचने की बात यह है कि जिसे हम आकाश कहते हैं, वह देश का ही तो ऐसा विस्तार है जो नीला बाना पहन कर अपने सब-जगह-फैले विराट् रूप की एक झलक *दिखा* देता है! पर चलो अब आकाश की नहीं, देश की बात करते हैं। मेरा सवाल होगा, देश है कि नहीं? क्यों आकाश, विज्ञान *आकाश* के होने से इनकार करता हो, पर क्या देश के होने से भी इनकार करता है? ऐसा तो वह करता नहीं लगता। प्रकाश-किरणों को लो। विज्ञान उनकी एक बँधी चरम गति की बात करता है : एक लाख अस्सी हज़ार मील प्रति-सेकंड। अब यह गति तो देश में ही होती है; वह देश न हो तो गति कहां होगी? क्या यह नहीं हो सकता कि देश का स्वरूप ही ऐसा है कि वहां यही गति संभव है? वैज्ञानिक देश के ढाँचे की तो बात करते ही हैं – कहते हैं कि देश वैसा निराकार नहीं है जैसा हमें लगता है, जिसमें रेखा जहां तक जायेगी, सीधी जायेगी। देश ऐसा सपाट नहीं है, वह स्वरूप से ही गोलाई लिये है। या उसमें भीतर ही भीतर सलवटें हैं। हम जिसे गुरुत्वाकर्षण कहते हैं, इन्हीं सलवटों का फल है। और मैंने सुना है कि कुछ वैज्ञानिक कहते हैं कि जो कुछ भी है, भौतिक द्रव्य, अणु-परमाणु, ऊर्जा, सब आकाश की - या देश की - ही किसी करवट से बने हैं। क्यों आकाश, है कि नहीं? बल्कि मुझे तो लगता है कि गहरा सवाल यह है कि केवल आकाश ही क्यों, कुछ भी क्यों है? सोच कर देखो, कुछ है ही क्यों?

अनुभूति (आकाश कुछ कहे, उससे पहले ही) : पृथु, यह सवाल गहरा है कि कुछ भी क्यों है, कुछ नहीं क्यों नहीं है? पर इसका जवाब कहां से ढूंढें, समझ में नहीं आता। मैं एक बात कहती हूं, सुनो। तुम आकाश और देश में ही खोये हुए हो। इनके ही होने का सवाल तुम्हें सता रहा है। और अब तुम आकाश के कुछ नहीं को ही सब कुछ के होने का कारण भी बता रहे हो। पर मैं आकाश या देश को कारण के रूप में नहीं सोच

सकती। हमारा होना देश पर नहीं, काल पर निर्भर करता है। थोड़ा भी सोच कर देखो - काल में हम जीते हैं, मरते हैं, चीज़ें उपजती हैं, विनसती हैं – देश तो बस सबको जगह देता है। करता कुछ नहीं। हमें बनाता तो काल है, सताता भी काल है। हम काल की मुट्ठी में हैं – हमारा होना भी काल पर टिका है, हमारा मिटना भी; और हमारा ही क्यों, जो कुछ भी है सब कुछ का होना-न होना काल के बस में है। देश इसमें कुछ नहीं करता, चाहे वैज्ञानिक कुछ भी कहते हों। वैज्ञानिक इसका क्या जवाब दे सकता है कि कुछ है ही क्यों, जब कुछ नहीं भी हो सकता था? आकाश अगर कुछ है तो फिर सवाल होगा कि आकाश भी क्यों है? मैं कहती हूं, काल नहीं होता तो आकाश भी नहीं होता। काल कुछ बनाता है तो उसके होने के लिये जगह भी बनाता है - यही आकाश या देश है।

पर सुनो, मैं काल के अपने अनुभव की बात कहती हूं। बड़ा विचित्र है काल - कभी तो बीतता ही नहीं, कभी यों बीत जाता है जैसे था ही नहीं। पता नहीं लगता कब गया, कहां गया। इस बात को कौन नहीं जानता? काल के साथ हम भी बीतते हैं - यह ऐसी मामूली बात है कि कहने की बात ही नहीं। पर मुझे कभी कभी ''बिलकुल कुछ नहीं होने'' का भाव जैसे अपनी बंद मुट्ठी में आ दबोच लेता है। और वह भी तब जब कि मैं काल को जैसे भूल ही जाती हूं – कहीं ख़ुशी के आकाश में तैर रही होती हूं। तभी अंदर से कोई कहता है – मैं ही कहती हूं – ''बड़ी ख़ुश हो अपने आप से, फूली नहीं समा रही हो। मानो पर लग गये हैं। हवा में उड़ रही हो, और अपना होना कैसा बड़ा, कैसा भरा-पूरा लग रहा है। पर तुम अभी यों मिट जा सकती हो जैसे हवा के अचानक झोंके में दिये की लपकती लौ"। मैं एकदम चौंक जाती हूं। मुझे लगता है जैसे काल ही मुझे ललकार रहा है कि कहां किस भ्रम में आपा खो बैठी हो? और उसका ललकारना ठीक ही है। मेरा होना मेरे चाहने पर तो है ही नहीं । काल के चाहने पर है। और मैं जब यह बात सोचने लगती हूं, अंदर से बुझ जाती हूं। मेरी ख़ुशी हवा, मेरे पर काफ़ूर – मैं ऊपर से बिलकुल नीचे आ गिरती हूं काल की कठोर धरती पर।

मैं अपना अनुभव इसलिये बता रही हूं कि हम तब से ''क्या है'' की बात कर रहे हैं – ऐसे जैसे ''है'' कोई बनी-खड़ी या ठहरी-टिकी हुई चीज़ हो। पर खड़ा या टिका हुआ कुछ है ही नहीं। ''है'' की बिसात ही क्या है? ''क्या था'' और ''क्या होगा'' के बीच ''है'' तो ''नहीं है'' जैसा ही है। जो था और जो होगा, इन दोनों को हटा दो तो बीच में बचेगा ही क्या? पर जो था वह है नहीं। वह कहां होता है? वहां तो नहीं होता जहां उसे होना चाहिये – होने के जगत् में; वहां से तो वह काफ़ूर हो जाता है – ''नहीं है'' हो जाता है। वह कहीं ''है'' तो हमारी याद में। और हमारी याद का होना ही क्या? और उसका भरोसा भी क्या? हमें ही अपनी याद पर कितना भरोसा होता है? भूलने के कगार पर बैठी रहती है सदा – और बहक बहक भी जाती है। फिर याद में *होने* का अर्थ क्या? याद तो ख़ुद ही काल में बहती चीज़ है। और फिर याद तो मन में होती है, या भीतर कहीं

होती है। तो क्या जो कुछ हो चुका है वह हमारे भीतर हमारे कभी भी भूल-जा-सकने की धरती पर टिका होता है? बाहर, वास्तव में, अपने आप में नहीं होता? ऐसे है का होना ही क्या? अब ''जो होगा'' की बात लो। उसका होना तो और भी ढुलमुल चोर-मिट्टी है – वहां तो याद जैसी कोई गठरी भी नहीं जिसमें वह ज्यों-त्यों आधा-अधूरा, टूटा-फूटा समा सके। और ऊपर से मज़े की बात यह है कि हमारा अपना होना हमारे पीछे के बीत-गये काल की ओर इतना नहीं झुकता है जितना आगे, भविष्य की ओर मुँह बढ़ाये रहता है। हम जीते ही भविष्य के लिये हैं – जिसका होना कहीं है ही नहीं। वह क्या होगा, कौन जानता है? होगा भी कि नहीं, इसका क्या भरोसा? जो आगे होगा उसका होना तो जो हो चुका है उसके होने से कहीं ज़्यादा बेसहारा है। उसके लिये याद जैसी कोई मन की मिटती-रहती वृत्ति भी नहीं है। वह हमारी चाह में, सपनों की बनती-मिटती, उजलाती-धुँधलाती नदी में, हमारे विश्वास में – हमारी संसार के प्रति श्रद्धा में – ''काश हो जाये'' सा होता है। यों कि उसे ''होता है'' कहना ही एक आस की बात है। यह आस कि चीज़ें, उनका होना, यों ही बना रहेगा जैसा है। पर एक विचित्र सी बात और है – भविष्य के होने के बिना हम वर्तमान के भी किसी ''है'' की बात नहीं कर सकते – क्योंकि ''था'' को भूल भी जाओ तो ''होगा'' के बिना ''है'' की जगह ही कहां? तो, मैं कहती हूं कि हमें ''क्या है'' की नहीं, ''क्या होता रहेगा'' की बात करनी चाहिये। ''संसार'' या ''जगत्'' का मतलब ही ''होते रहने का प्रवाह'' है। हम ''होते रहने'' की बात करेंगे तो एकदम से दिख जायेगा कि जिसको हम ''है'' कहते हैं वह अपने होने में ही ''नहीं है'' के साथ एकरस हुआ गुँथा रहता है – जैसे रस्सी की बाँट में मूंज के दो लच्छे। ''है'' और ''नहीं है'' का ऐसा निरंतर अटूट साथ न हो तो ''होते रहने'' का सिलसिला बनेगा ही कैसे? जो होता रहता है वह किसी ''है'' को लगातार ''नहीं है'' के शून्य में फेंकता हुआ है की नई कड़ी जोड़ता रहता है। तभी ''क्या है'' की बात कोई खड़ी चट्टान नहीं, बहते हुए संसार की बात है जिसमें हम भी बहते हैं। तो सवाल हमारा ''है'' या ''नहीं है'' का नहीं है, ''होते रहने'' का है - उसी बारे में होना चाहिये। और सवालों में बड़ा सवाल यह है कि ''होते रहने'' में ''है'' और ''नहीं है", इन विरोधियों का साथ रूप कैसे लेता है, कैसे बना रहता है?

(सिद्धर्षि कुछ कहना चाहता है, उसे टोकते हुए) : एक बात मैं और कहना चाहती हूं, सिद्धर्षि, फिर तुम अपनी कहना। मैंने कहा था, मैं इच्छा से अलग होकर उसे देखती हूं, तभी उसके होने की बात कर सकती हूं - चाहे इच्छा में कितनी ही डूबी रहूं, अपने को इच्छा *में* ही क्यों न पाऊँ। आकाश, तुम भी ऐसी ही बात कर रहे थे। पृथु तो अभी देखने की ही नहीं, उस देखने के भी देखने की बात कर रहा था। पर मैं इच्छा की बात करती हूं। इच्छा भी एक प्रवाह ही है जो काल में बनता-मिटता है। मेरी इच्छा को ही क्यों, काल *मुझे* भी बनाता है, मैं काल ही हूं। काल के प्रवाह में हम सब जनमते-मरते हैं, सारा संसार बनता-मिटता है।

तो, मैं काल से अलग नहीं हूं। पर मैं उसे देख भी रही हूं। उसकी बात कर रही हूं। तो उससे अलग भी हूं। नहीं तो कैसे उसे देखती और कहती कि काल क्या है? लेकिन सभी कुछ तो है काल! पर इसका अर्थ यह हुआ कि काल की नदी में मैं बहती हुई भी सर ऊपर उठा कर देख सकती हूं चारों ओर। अपने बहने को *देख* सकती हूं - अपने काल में होने को, ''काल ही होने'' को *समझ* सकती हूं। पर, सिद्धर्षि, इन्द्रियों से तो यह काम नहीं कर सकती। काल किस इन्द्रिय से दिखता है? तुम भीतर की इन्द्रियों की बात कर रहे थे, भीतर की किस इन्द्रिय से दिखता है काल? मेरी तो समझ में नहीं आता। पर यह समझ में आता है कि हम जब सोचते हैं – कुछ समझने के लिये विचार करते हैं – तो काल के बाहर होते हैं। और अगर काल के बाहर होते हैं तो संसार के भी बाहर होते हैं। पर मुझे लगता है कि सोचने में ही नहीं, प्रेम में भी हम बाहर ही होते हैं। समझ में नहीं आता इस बात को कैसे बताऊँ? प्रेम का रहस्य कैसे कहूं? मैंने अपने गुस्से की बात कही थी, मन में कैसी हिंसा जाग जाती है, अचानक, जिस पर पीछे पछताती हूं! पर प्रेम के लिये कोई पछतावा नहीं होता। प्रेम में मैं अपने को अपने से बाहर पाती हूं, अपने से बड़ा पाती हूं – वहां पाती हूं जहां यम के दूत भी मेरा कुछ नहीं कर सकते। जैसे अभी विचार में मुझे दिख रहा है कि काल मेरा विषय है, मैं काल का विषय नहीं हूं, वैसे प्रेम में भी यही अनुभव होता है – इससे भी बढ़ कर होता है। प्रेम में जैसे अपने आप को धन्य पाती हूं, चरितार्थ पाती हूं। विचार में नहीं पाती। अभी अचानक तुम सब के साथ बैठी सोचने लगी तो विचार जागने लगे – पर इसमें अपने को पा नहीं रही हूं। प्रेम में पाती हूं। पर प्रेम में मैं ''मैं'' भी नहीं होती – जिस ''मैं'' में हिंसा उबल आती है, जो अपनी ही सोचता है। प्रेम में मैं अपने साधारण होने से अलग होती हूं, पर प्रेममय हो जाती हूं, संसार ही प्रेममय हो जाता है।

एक मिनट और रुको, सिद्धर्षि, अब बोल रही हूं तो बोलने दो – मैं जानती ही नहीं थी कि मैं इतनी और इस तरह की बात कर सकती हूं। मेरी एक बात और सुन लो। सिद्धर्षि, तुमने ''क्या है'' की श्रेणियां बनाने को कहा था। मैं बनाती हूं। दो श्रेणियां हैं – एक काल की, जिसमें सारा संसार आ जाता है; दूसरी श्रेणी काल से बाहर की है जिसमें विचार आता है, और उससे भी बढ़ कर प्रेम। विचार को तो प्रेम का ही एक रूप कह सकते हैं, हालांकि कैसे कहें, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा। पर मनुष्य में प्रेम की संभावना न हो तो विचार भी कैसे होगा? प्रेम ही मनुष्य को अपने सिकुड़े-हुए, इच्छा और स्वार्थ में जकड़े हुए होने से बाहर निकालता है।

सिद्धर्षि : आज तो तुम्हें भी कुछ बेढब से पर लग गये हैं, अनुभूति। पहले तो तुम पृथु के सवाल को ही बेकार समझ रही थीं – और अब तुम पर विचारों का उफान आ गया है। पूरा का पूरा दर्शन खड़ा कर लिया है तुमने। एक अजीब से द्वैत का सिद्धांत जोड़ डाला है, एकदम से। अब हम लोग ऐसी श्रेणियां बनाने लगें जैसी तुमने बना डाली हैं

तो यों ही ख़ाम-ख़याली में ही खोये रहेंगे। होने की श्रेणियां ऐसी मनमानी से थोड़े ही बन सकती हैं जैसे तुम बना रही हो! यह मान भी लें कि श्रेणी इन्द्रिय से नहीं जानी जा सकती, पर इन्द्रिय के बिना उसमें कुछ होगा भी क्या? ''क्या है'', इस सवाल का तो कोई भी संतोष-देता जवाब नहीं मिलेगा। पर तुमने तो इन्द्रिय को बिलकुल अलग ही फेंक डाला है। काल और प्रेम, दोनों के लिये ही इन्द्रिय का कोई काम नहीं। पर बिना इन्द्रियों के तो हमारे लिये हमारा वस्तुओं का संसार बनता ही नहीं है। सवाल उठा था कि इन्द्रियों का अपना होना कैसा है? इन्द्रियां कैसी वस्तुएं हैं? कहां होती हैं इन्द्रियां, बाहर या भीतर? यह भी सवाल उठ सकता है कि स्वयं इन्द्रियों का ज्ञान क्या हमें इन्द्रियों से होता है? आँख अपने को नहीं देखती, स्पर्श अपना स्पर्श नहीं करता...। शायद विज्ञान बताये कि ऐसा क्यों होता है? पर कोई कह बैठेगा, विज्ञान का इस बात में क्या प्रमाण? विज्ञान तो इन्द्रिय के प्रमाण को मान कर चलता है। लेकिन तभी तो विज्ञान इतना आगे बढ़ पाया है – वरना पहले के लोग वैसी ही कल्पनाओं में फँसे रह जाते थे जैसी अनुभूति के मन में दौड़ रही हैं। कहीं पहुँच ही नहीं पाते थे।

विज्ञान बताता है कि इन्द्रियां संकेत पहुँचाती हैं मस्तिष्क तक और मस्तिष्क उन संकेतों का अर्थ लगाता है कि क्या है जिसका संकेत है, और यों हम संसार को और संसार की वस्तुओं को जानते हैं, फिर उसी ज्ञान के अनुसार वस्तुओं के जगत् में जीते हैं, वस्तुओं का उपयोग करते हैं, और यों हमारा अपना संसार, हमारा *व्यवहार*, बनता है। हमारे व्यवहार का जगत् इन्द्रियों के संकेतों में दी गई वस्तु और हमारे बीच के संबंध से बनता है। जगत् की वस्तुओं को इन्द्रियों से जान कर हम प्रतिक्रियायें करते हैं और इन प्रतिक्रियाओं की एक योजना बनती है; उन्हीं में एक प्रतिक्रिया यह है कि हम वस्तुओं को *जानते* हैं कि वे क्या हैं। उन्हें जान कर हम उनसे व्यवहार करते हैं। हम व्यवहार में रहते-जीते है, व्यवहार के भीतर ही हमारा जानना भी होता है जिससे व्यवहार चलता है। यों हमारा ज्ञान हमारे व्यवहार का अंग होता है, उसीमें रूप लेता है, बढ़ता है, उसीके भीतर हम जानते हैं कि यह ज्ञान है और यह वस्तु है जिसका यह ज्ञान है। इस मूल बात को भूल कर हम दूर की कौड़ियां लाने लगें तो ज्ञान नहीं होगा, पागलपन होगा। पृथु श्रेणियों के होने पर अजीब अजीब समस्यायें उठा रहा था। श्रेणियां हम अपने उपयोग को और अधिक सफल-कुशल करने के लिये बनाते हैं। उनका होना भी उपयोग का ही होना है – ठीक है, उन्हें बुद्धि बनाती है और वह इन्द्रियों से परे है, लेकिन बुद्धि हममें इसलिये है कि व्यवहार हमारे और काम का बन जाये, हमारे उपयोग की दुनिया और बड़ी होती जाये, अनुकूल होती जाये। इसलिये नहीं कि पृथु की तरह विचार का जंजाल फैलाये। ऐसी बातें हमें कहीं नहीं ले जा सकतीं।

पर ''क्या है'' की श्रेणियां तो मैं भी बनाना चाहता हूं, और पृथु की बातों पर ध्यान तो देना ही होगा। सोचना होगा।

पृथु : पर सिद्धर्षि, तुम व्यवहार की जो बात कर रहे हो उसमें तो ''क्या है'' के प्रश्न के लिये कोई जगह ही नहीं बचती है! अगर हमारा व्यवहार और व्यवहार के भीतर उपजता व्यवहार के उपयोग का ज्ञान ही सब कुछ है, और अगर यह ज्ञान भी व्यवहार से बँधा है, तो फिर हमारा ''क्या है'' का प्रश्न पूछ ही क्या रहा है? प्रश्न बनता ही कहां है, और प्रश्न में फिर कोई हैरानी ही क्या है? होने में कोई अचम्भा ही क्या है? पर सच पूछो तो होने में अचम्भा ही नहीं अनहोनी भी है – तभी तो यह परम पहेली जैसा सवाल उठा था कि कुछ है ही क्यों, जब कि कुछ नहीं भी हो सकता था? पर सिद्धर्षि, जिसको तुम हमारा व्यवहार कहते हो, या जिसको हमारा होना ही कह सकते हो, उसीमें होते हुए ही तो यह सवाल उठता है! हम हैं तो हमारे साथ यह सवाल भी है। यह ठीक है कि व्यवहार में हम आम तौर पर यह नहीं पूछते कि यह गिलास क्या है? गिलास का ''होना'' क्या है? उसका ''नहीं होना'' क्या है? पर ये सवाल तो कभी भी उठ सकते हैं – हम गिलास से बिन-सवाल व्यवहार करते हैं, पर हमारे मन के भीतर ही कहीं छुपे रहते हैं ये सवाल! कभी भी बाहर आ सकते हैं। ये सवाल हमारे होने के साथ ही हममें घिर आते हैं। तुम्हें रवीन्द्र नाथ ठाकुर की एक छोटी सी कविता सुनाता हूं जो उन्होंने अपने अन्तिम दिनों में लिखी थी :

पहले दिन के सूर्य ने
पूछा था,
कौन हो तुम?
उत्तर नहीं मिला।
बरस बरस बीत गये,
दिन के अन्तिम सूर्य ने
अन्तिम प्रश्न किया पश्चिम सागर के किनारे,
निस्तब्ध सन्ध्या के बीच –
कौन हो तुम?
उत्तर नहीं पाया।

कवि कहता है कि प्रश्न हममें ही नहीं सृष्टि में समाया है। ठीक ही कहता है, नहीं तो हममें कहां से आता? कवि पूछता है, कौन हो तुम? अब, ''क्या है'' का प्रश्न इससे दूर कहां है? ''कौन हो तुम'' का जो उत्तर देगा वही तो बता सकता है कि है क्या? पर ऐसा कोई उत्तर हमें कभी मिलता नहीं। हम नहीं जानते कि ऐसा कोई उत्तर है भी क्या? जान भी नहीं सकते। पर प्रश्न तो पूछते ही हैं –पूछे बिना रह नहीं सकते, चाहे उत्तर न मिले। पर उत्तर की खोज तो किसी गहराई से होनी चाहिये। हमारे भीतर भी कोई है जिसे हम

पूछते हैं, कौन हो तुम? सच पूछो तो कवि का प्रश्न भी उसी से है। पर उसे पूछने के लिये हमारी पुकार में जान होनी चाहिये। अपने व्यवहार के ''हम'' से तो निकलना ही पड़ता है इसके लिये। उत्तर भी मिलते ही हैं, पर हम फिर पूछ बैठते हैं, कौन हो तुम? वह नहीं मिलता जो अंतिम उत्तर दे सके। पर उसकी ओर बढ़ने से हम कब चूकते हैं? और यह सब हम व्यवहार के भीतर रहते हुए ही करते हैं। पर सिद्धर्षि, तुम तो व्यवहार को ही हमारा ऐसा सर्वेसर्वा बना देना चाहते हो कि व्यवहार ही प्रश्न का उत्तर भी दे दे। लेकिन व्यवहार कोई बँधा-बँधाया घेर नहीं है जो हमें अपने दायरे से निकलने नहीं देता। वह तो हमें धरती देता है। पर तुम कहते हो कि हम व्यवहार ही हैं – हम व्यवहार करते हुए ही चीज़ों के बीच रहते हैं - हमें व्यवहार के भीतर ही वस्तुओं का ज्ञान होता है। पर इसका क्या अर्थ? व्यवहार के भीतर ''गिलास का होना क्या है?", इसका क्या उत्तर होगा? हां, यह कह सकते हो कि यह प्रश्न ही व्यवहार में नहीं उठाया जाता। पर यों व्यवहार तो बंधन हुआ जहां हम हम ही नहीं होते, जहां किसी गहरे प्रश्न के लिये कोई स्थान नहीं है। पर प्रश्न के बिना विज्ञान भी कहां होता है? विज्ञान भी तो जानना चाहता है क्या है, और वह भी तो व्यवहार में प्रश्न का उत्तर नहीं ढूंढता। पर तुम व्यवहार को किसी तरह के चक्रव्यूह में बाँध रखना चाह रहे हो, जहां क्या है, और क्या है का ज्ञान, दोनों हमारे आठ पहर के जीते रहने में, रोज़मर्रा के काम-काज और उपयोग के घेर में बंद हैं। वहां तो क्या है का प्रश्न ही जैसे बेगाना है, अजनबी है। बल्कि किसी अनजान दुश्मन का जासूस है जो व्यवहार के ढाँचे को ही ध्वंस करने के इरादे से आया है। ऐसे प्रश्न को वहां से देश-निकाला दे देना चाहिये। लगता है, तुम यही करना चाह रहे हो। शुरु शुरु में अनुभूति के मन में भी ऐसा ही आक्रोश था। पर बाद में अनुभूति ने क्या है के साथ क्या होना चाहिये के सवाल को जोड़ा है। ठीक ही जोड़ा है। यह सवाल गिलास के लिये भी उठता ही है – गिलास के होने को उसके "गिलास होना चाहिये'' से अलग नहीं किया जा सकता। गिलास को हम बनाते हैं, तो हमारी बनाई चीज़ में क्या है के साथ क्या होना चाहिये का सवाल यों नत्थी रहता है कि एक ही सिक्के का इधर और उधर - अलग नहीं किया जा सकता। ऐसा नहीं हो तो गिलास गिलास ही नहीं बनेगा, गिलास के काम ही नहीं आयेगा। तभी हम गिलास की दुकान पर जाते हैं तो गिलास जाँच कर लेते हैं। गिलास के होने को व्यवहार के उपयोग लायक साधना पड़ता है, वह अपने आप में सधा-सधाया कुछ नहीं होता। पर गिलास मामूली चीज़ है - व्यवहार के भीतर ही बनती है, और बनी कि नहीं, जाँची जाती है – अब तुम कह सकते हो कि इससे तो व्यवहार ही गिलास के होने का आधार भी और प्रमाण भी ठहरता है। कह सकते हो कि व्यवहार का एक ढर्रा है जिसमें गिलास बनता और होता है – और यों गिलास का उपयोग ही गिलास है, और इसी रूप में हम उसे जानते हैं। पर गिलास का उपयोग क्या? अभी मैं अपनी बात कहने में गिलास को उदाहरण बना रहा हूं, तो क्या यह भी गिलास का वैसा उपयोग है जो

व्यवहार के घेर में आ जाये? पर मैं तो गिलास को नहीं, इस समोसे को भी उदाहरण बना सकता था। इससे क्या गिलास और समोसे को एक मान लोगे? दोनों के उपयोग में तो भारी फ़र्क है। समोसे के लिये तो कैसा होना चाहिये का सवाल और भी बड़ा है – समोसा स्वाद भी और सुन्दर भी और पथ्य भी होना चाहिये, खाने में भी अच्छा हो और बीमार भी न करे। गिलास में स्वाद का टंटा नहीं है। पर मैं इन दोनों का ऐसे उदारण के रूप में उपयोग कर रहा हूं जिसके लिये इन्हें नहीं बनाया गया है, तो मेरा यह उपयोग इन्हें व्यवहार की ही चीज़ कैसे बनाये रख सकता है? मेरा यह उपयोग एक सामान्य का उदाहरण है जिसमें ''व्यवहार में बनाई हुई हर चीज़'' समा जाती है। पर तब वह व्यवहार की वस्तु नहीं रहती, विचार की वस्तु हो जाती है। जिस व्यवहार में गिलास गिलास है और समोसा समोसा, उस व्यवहार से निकाल कर मैं उन्हें उदाहरण बना रहा हूं। मैं व्यवहार में बनी किसी चीज़ का भी उदाहरण ले सकता था - या यह भी कर सकता था कि किसी चीज़ का नाम ही न लूं, बस इतना कह दूं, ''व्यवहार में बनी चीज़''। विचार में मेरा काम सामान्य से है, किसी ख़ास चीज़ से बिलकुल नहीं। तो हम चाहें तो यहां उसी चीज़ के होने के दो प्रकारों की बात कर सकते हैं – विशेष और सामान्य। एक व्यवहार की वस्तु है, दूसरी विचार की। पर और भी एक भेद कर सकते हैं हम – वे चीज़ें जो व्यवहार के लिये बनती हैं, जैसे गिलास या समोसा, और वे जो हमारे बनाये नहीं बनतीं – जैसे पेड़, फूल। और आकाश। मेरा सवाल तो आकाश के बारे में था। उसे हम व्यवहार में कैसे जान सकते हैं? व्यवहार के लिये उसे ''है'' कहो या ''नहीं है'' कहो, क्या फ़र्क पड़ता है? और यह भी मेरी समझ में नहीं आ रहा कि आकाश को विशेष कहूं या सामान्य? दूसरी चीज़ों के लिये, चाहे चीज़ें व्यवहार की हों या व्यवहार के बाहर की, मैं कह सकता हूं कि ये विशेष भी हैं और सामान्य भी। पर आकाश के लिये क्या कहूं?

अनुभूति (पृथु की बात को बढ़ाते हुए) : तुम फिर घूम-फिर कर अपने आकाश पर आ गये। पर व्यवहार के बारे में एक पते की बात कहने से रह गये तुम। तुम गिलास और समोसे के होने के लिये ''इन्हें क्या होना चाहिये'' को ज़रूरी बता रहे हो, पर व्यवहार की ऐसी चीज़ों से पहले यह सवाल तो पूरे व्यवहार के लिये ही उठता है कि व्यवहार क्या होना चाहिये? व्यवहार के बारे में व्यवहार के भीतर ही यह सवाल उठता है। व्यवहार पेड़ की तरह या फूल की तरह अपने आप नहीं होता, इसका होता रहना इसे बनाये रखने से होता है, और इसलिये ''इसे क्या होना चाहिये'' के बिना इस का होना ही संभव नहीं। यह बात तो हम सबको साफ़ दिखनी चाहिये कि व्यवहार का होना व्यवहार को क्या होना चाहिये की धरती पर ही बनता है, और उसे अपनी कोशिश से बनाये रखना पड़ता है – ऐसा नहीं हो तो व्यवहार का कोई अर्थ ही नहीं होगा। बिल्ली का न सही, मनुष्य का व्यवहार तो बनता ही तब है जब अपनी चेष्टा से उसे बनाये रखा जाये। तभी तो बिल्ली के होने-रहने को व्यवहार कहने का कोई अर्थ ही नहीं। लेकिन मनुष्य व्यवहार

करता है तो व्यवहार में हमेशा प्रश्न उठाता रहता है कि व्यवहार क्या हो ? देखते नहीं हो, हम मामूली व्यवहार में भी जब किसी की बात करते हैं तो क्या कहते हैं ? यही तो कहते रहते हैं कि वह वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिये। पूरे देशों के, समाजों के बारे में ऐसी बातें करते हैं हम। इसके बिना तो लगता है हमारे पास लोगों के बारे में कुछ कहने को ही नहीं होता। चींटियों में ऐसा नहीं होता, बिल्लियों में नहीं होता, लंगूरों में भी नहीं होता जो हमारे इतने पास हैं। इन जीवों में उपयोग-बुद्धि भी कम नहीं होती। अगर उपयोग से ही व्यवहार है तो इनमें हममें कोई फ़र्क नहीं है। फिर ये जीव भी एक व्यवस्था में ही रहते हैं, एक योजना दिखती है इनके होने में - या होते रहने में कहना चाहिये – यह योजना इनके होते रहने को बनाये रखती है। इस योजना के बिना इनके होने की कल्पना नहीं की जा सकती, जैसे चाँद, सूरज, नक्षत्रों की नहीं की जा सकती। पर इनके होने को व्यवहार कह सकते हैं क्या ? चाहे इनमें बुद्धि भी हो, उपयोग का कौशल भी हो। इनके भीतर से कोई सवाल नहीं उठता कि इनका होना क्या होना चाहिये ! वह इसलिये कि ये काल में ही होते हैं, इनका होना काल के बस रहता है। ये काल से ऊपर सर नहीं उठा पाते। क्योंकि इनमें प्रेम नहीं होता। या नहीं होने जैसा होता है। प्रेम का होना ही होना चाहिये का होना है। प्रेम हमें हमसे ऊपर उठा कर व्यवहार के प्रवाह को बदलने की, उसे अपनी तरह बहाने की प्रेरणा देता है, शक्ति देता है। हमें नई सम्भावना देता है। नई सम्भावना की स्वतन्त्रता देता है।

(कुछ सोच कर) : पर प्रेम अपने आप में भी एक सम्भावना ही है – हम क्या हो सकते हैं, हमें क्या होना चाहिये, इसकी सम्भावना। प्रेम हममें आता ही एक सम्भावना के रूप में है – जैसे बंद आँखें खोलता है। हम क्या हो सकते हैं, हमें क्या होना चाहिये, इस आदर्श की सम्भावना की आँख हममें मिचमिचाती है जैसे। तभी हम चींटी नहीं हैं, लंगूर नहीं हैं। हमारे अँधेरों में हमारे भीतर टिमटिमाती है प्रेम की आँख। आदमी के साथ जगत् के निरे होने में जगत् को क्या होना चाहिये, जगत् का अपना सच्चा स्वरूप अँगड़ाई लेता दिखता है। हम काल से ऊपर उठ जाते हैं। तभी हममें आदर्श की झलक है और आदर्श का धारण करने के लिये विचार है। होना ही जैसे एक नई करवट लेता है हममें। मैं समझती हूं कि ''होना चाहिये", यह ''है'' की ही सम्भावना है, उसकी अंतरात्मा है - उसका सच्चा, उसका *वास्तव* होना, जो प्रेम के रूप में प्रकट होता है। वह ''है'' के भीतर से व्यक्त होता है, आविर्भूत होता है और अवतार लेता है हमारे बीच। अनहोना सा लग सकता है उसका अवतार। हिंसा, स्वार्थ, ये हमारे स्वभाव की ही घुट्टी में पड़े हैं, पर ये हमें ''नहीं होने चाहियें'' लगने लगते हैं। इनका होना जीवों का जीवन है पर ये हमें ऐसे लगने लगते हैं कि जैसे इनका होना ही जीवन की सही दिशा नहीं। ये हैं पर उचित नहीं हैं। इन्हें होना नहीं चाहिये। विचित्र सी बात है – प्रेम के बिना समझी ही नहीं जा सकती। क्योंकि अर्थ यह निकलता है कि हिंसा, स्वार्थ, ये हैं भी तो मिथ्या हैं। हम जहां तक प्रेम में नहीं रहते हैं, मिथ्या में रहते हैं।

बड़ी अजीब है बात, सोचती हूं तो अनबूझ पहेली लगती है – विचित्र रहस्य लगता है – कहीं रहस्य में उतरने का किनारा नहीं पाती हूं। सोच कर देखो : सारा जीव-जगत् जिस हिंसा में सहज, बिना विचार डूबा रहता है, जिस अंधे अहं में धँसा रहता है – जैसे सृष्टि के ऐन भीतर बैठा नियम ही हो - वही हमें न होने लायक लगने लगता है – हम उससे हट नहीं पाते हैं तो नहीं हटने के कई कई तर्क देते हैं, सफ़ाई देते हैं - उपयोग की दुहाई देते हैं। पर हमारे भीतर कहीं प्रेम कहता है कि यह ठीक नहीं। प्रेम तर्क के भुलावे में नहीं आता। वह ऐसा आदर्श बन कर हमारा ''है'' हो जाता है कि विचार के दाँव-पेच उसे हटा नहीं सकते।

तभी मैं कहती हूं कि विचार जागता ही हममें प्रेम के साथ है। प्रेम की सम्भावना के साथ जागता है हममें विचार। उसकी नींव प्रेम है। प्रेम स्वतन्त्र है – अपने आप में स्थित है, उसका होना परम है। विचार भी स्वतन्त्र है, वही हमारे भीतर प्रेम के आदर्शों को जगाये रखता है – उसके बिना हम क्या ''होना चाहिये'' की बात सोच ही नहीं सकते। पर वह स्वतन्त्र है तो उच्छृंखल भी हो जाता है। वह प्रेम को ''नहीं है'' कह कर उड़ा देने की ढिठाई भी करता है। पर प्रेम तो हमारे होने की ही जड़ है। उसके बिना आदमी का होना ही क्या? हम भी काल के अंधे जीव-प्रवाह की गति में ही होते हैं।

सिद्धर्षि, तुम कहोगे, पहले मैं दर्शन बखान रही थी, अब प्रवचन करने लगी हूं, अध्यात्म के गुरुओं की तरह। पर सुनो, तर्क देती हूं। प्रेम का होना अपनी तरह का ''है-नहीं है'' का मेल है – क्योंकि प्रेम हममें संभावना होता है, ''होना चाहिये'' के रूप में होता है। और साफ़ ही ''होना चाहिये'' का होना ''होता'' नहीं है - पर हो सकता है। लेकिन ''हो सकता है'' कह देना भी उसके लिये काफ़ी नहीं है। बहुत ठीक भी नहीं है। ऐसा कुछ भी जो असम्भव नहीं है, वह हो सकता है। अभी नहीं है तो कभी रहा होगा – काल में क्या क्या बन कर मिट चुका है, कौन जाने - या अभी भी कहीं हो ही सकता है, हमारे अनजाने में, या भविष्य में कभी भी रूप ले सकता है – भविष्य अनंत है। अब तुम तर्क में कह सकते हो कि हो सकने की बात ही अभी की – वर्तमान की - या काल के प्रवाह में पीछे की नहीं आगे की ही बात हो सकती है। पर काल-प्रवाह का आगा-पीछा क्या? काल में आगे-पीछे हमारे अभी से बनता है – बनता क्या है, हम उसे बनाते रहते हैं। और वह इसीलिये संभव है कि हम काल से बाहर हैं, काल का अपने विचार में धारण कर सकते हैं। और यह भी देखो कि हमारा ''अभी'' होता कैसा है। यों तो आगे और पीछे के बीच में कोई जगह ही नहीं हो सकती – पर हम काल के बाहर भी हैं तो काल का कुछ बीता हुआ और कुछ आगे का टुकड़ा बटोर कर अपना एक ''अभी'' बना लेते हैं। ''अभी'' की एक ज़मीन बनाते हैं हम, जिसके पीछे भूत, आगे भविष्य। अपने विचार में हम भूत, वर्तमान, भविष्य के चित्र भी बनाते हैं – इन्हीं विचार-चित्रों में अपने आप को रखते हैं – अपने आप को देखते हैं। पर चित्र का पटल ''होना चाहिये'' का ही पटल

होता है – क्योंकि उसके बिना तो इन चित्रों का होना ही खोखला है। पर इन विचार-चित्रों में हम पूरे समा नहीं सकते। विचार से परे हममें प्रेम जागता है जो विचार को अर्थ देता है – जो हमारे होने को ही अर्थ देता है। प्रेम की प्रेरणा हममें सूख जाये तो हमारा होना भी काल के गर्भ में होगा।

बस अब और अभी कुछ नहीं कहूंगी। यों ही बहुत कुछ कह गई हूं – पर जैसे कहे बिना रह नहीं पा रही थी। अब सिद्धर्षि, तुम कुछ कहो। तुम्हें तो मेरी बात बड़ी ऊल-जलूल लग रही होगी।

सिद्धर्षि : नहीं ऐसा नहीं है। मुझे अचम्भा ज़रूर हो रहा है कि तुम्हें क्या हो गया है! पर मुझे तो यही लगता है – मैं कह भी चुका हूं – कि इन बड़ी-बड़ी उड़ी-उड़ी बातों से भटकाव ही आता है – ''क्या है'' पर सोचने का यह सधा हुआ तरीका नहीं हो सकता। पहले हम कहीं घोंसला तो बनायें, फिर आकाश की सोच सकते हैं। अनुभूति, काल की ही तरह तुम्हारी बातों में बेरोक बहाव है। पर, यह भी कहूंगा कि गहराई भी दिखती है – तुम्हारे मन की गहराई। लेकिन तुम्हारे विचार भँवर की तरह अपने ही वेग में उलझे हुए हैं। हमें कहीं ले नहीं जाते। तुम अपनी उलझन को छुपाने के लिये तर्क की बात करती हो मगर...

शिखा : सिद्धर्षि, अब तुम भी कविता करने लगे हो। पृथु ने कितनी अच्छी कविता सुनाई थी – तुम्हें भी असावधानी में छूत का रोग लग गया लगता है। पर पृथु तुमसे अभी पूछ बैठेगा कि कविता ''है'' की किस श्रेणी में आती है तो क्या कहोगे? तुम ''है'' की टोकरी को बिखरने देना नहीं चाहते। तुम्हारा इरादा हमारे सोचने की कमर को कस कर हमारे विचार को छरहरा बना देने का है। लेकिन तुम ऐसा करो उससे पहले मैं भी कुछ कहना चाहती हूं। अनुभूति से अलग। पर अभी मुझे भीतर जाना है। काम है। आकाश भी देखो उठने के लिये कसमसा रहा है। सभी उठने की सोच रहे होंगे। देर तो हो ही गई है – अगली बैठक में चर्चा को आगे बढ़ायेंगे। रस तो सभी को आ रहा है।

(सभा विसर्जित होती है)

क्रमशः

चित् की आत्मगवेषणा*

यशदेव शल्य

जगत् का आविर्भाव और चेतना का आत्मचेतन होना चेतना के जीवन में ये दो गुह्यतम घटनाएं कही जा सकती हैं। ये घटनाएं क्यों घटीं, और ये कैसी हैं, इसे लेकर कुछ अनुमान करने की उत्कंठा तो होती है – जो स्वयं एक गुह्य पहेली है, किन्तु यह अनुमान केवल इनकी गुह्यता की अपारता का ही कुछ आभास देता है, इनके ज्ञान तक नहीं पहुँचाता।

जगत् चेतना के वासनात्मक प्रवर्तन की व्यवस्था कहा जा सकता है, जो प्रवर्तन इन्द्रियों और उनके विषयों को अपना माध्यम बनाता है। ये विषय इसके भोगार्थ प्रवर्तक और भोग्यार्थ प्रवृत्ति-फल कहे जा सकते हैं। जगत् की यह परिभाषा प्रकटत: भौतिक और वानस्पतिक अस्तित्व पर अव्यापक कही जा सकती है, क्योंकि अस्तित्व के इन दोनों रूपों में इन्द्रियां नहीं होतीं। यदि कोई वानस्पतिक में त्वगिन्द्रिय और बुभुक्षा की विद्यमानता कहना चाहे तो भी कम से कम भौतिक अस्तित्व इस परिभाषा से बाहर रह जाता है। इसका उत्तर यह हो सकता है कि भौतिक अपनी नितान्त स्वकीयता में चेतना के जगद्भाव का योग्यता-गर्भ प्रसुप्त अस्तित्व है, अन्यथा यह केवल इन्द्रिय-विषयक पदार्थ ही हो सकता है। ये पत्थर और जल या तो जीव की प्रागवस्था हैं या जीव के विषयमात्र। पहली कोटि भौतिक को चेतना के जगद्भाव की एक नितान्त तामस अवस्था के रूप में प्रतिष्ठित करती है। दूसरे शब्दों में, यह प्रसुप्त विषयिता की कोटि है। भौतिक को इस कोटि में रखने का औचित्य यह है कि इससे भिन्न भौतिक का रूप विषय का ही हो सकता है, जिसका अतिक्रमण यह या तो विषयता के विचारात्मक उद्ग्रहण के रूप में कर सकता है या विचारात्मक अविज्ञेय विषय के रूप में। इसका प्रथम रूप बौद्धों की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-विषय स्वलक्षण वस्तु में और दूसरा कांट की अतीन्द्रिय विलक्षण वस्तु में देखा जा सकता है। किन्तु साधारणत: हम इसे भौतिक विज्ञान के अनुसन्धेय विषय के रूप में देखते हैं, जहां यह वास्तव में प्रौद्योगिकीय उपयोज्य व्यवस्था अथवा बौद्ध निर्विकल्पकता-लक्षी जटिल विकल्प-व्यवस्था का विषय मात्र होता है। चेतना के जगद्भाव, या कहें जगन्मूलकता का शुद्ध रूप मानव से अवर स्तरीय पाशव चेतना में मिलता है। इस पाशव चेतना में विकास भी परिलक्षित होता है, जो एक ओर जगत्परक

---

*. यह लेख १. आत्मचिन्तन (**तत्त्वचिन्तन** में संकलित) २. सत् का स्वरूप : सापेक्षता का प्रश्न (**उन्मीलन**, जुलाई २००५) तथा ३. अवभासित अर्थ और उनका सत्ता-सम्बन्ध (**उन्मीलन**, जनवरी २००६) लेखों के क्रम में पढ़ना चाहिए।

भोगात्मक होता है और दूसरी ओर आत्म-लक्षी। इस विकास का पाशव रूप भोगार्थ प्रवृत्ति और उसकी योग्यता की वृद्धि के रूप में इन्द्रियों की योग्यता-वृद्धि में देखा जा सकता है। इस अवस्था में चेतना इन्द्रिय-विषयों से पूर्णत: तदात्म रहती है, जो विषय उसकी वासनाओं के तारतम्य में होते हैं। उन विषयों का इसके अतिरिक्त केवल एक रूप और होता है–बाधक का। इसे विषय के स्वतंत्र अस्तित्व का सूचक भी कह सकते हैं। किन्तु इस चेतना के लिए ऐसा कोई अस्तित्व नहीं होता। किन्तु उसके ये विषय ज्ञानेन्द्रियगम्य और कर्मेन्द्रिय साध्य होते हैं और इस प्रकार बाह्य देशावस्थित होते हैं। पर इस चेतना के लिए ज्ञानेन्द्रिय-विषयों की यह बाह्यता कर्मेन्द्रिय-व्यापार-विषयता से स्वतंत्र कोई वास्तवता रखती है, यह कहना युक्त नहीं होगा। इन्द्रियविषयों की बाह्यता, इस बाह्यता की वास्तवता, वास्तव की भौतिकता ये सब मूल जगच्चेतनागम्य विषय से उद्ग्रहण-मूलक होते हैं। ये उद्गृहीत विषय या वस्तुएं इन्द्रिय-विषय नहीं होकर विचार-विषय, या उपयुक्ततर बौद्ध पदावली में कहें तो विकल्प-विषय, होती हैं। इन विषयों को 'वस्तुएं' इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि ये निरपेक्षत: अपनी निजी सत्ता में प्रतिष्ठित रूप में विकल्पित होती हैं। अनात्मचेतन चेतना के विषय मात्र विषय होते हैं। ये विषय वास्तवता के लेश से भी रहित होते हों ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, उनकी बाह्य देशावस्थिति और कर्मेन्द्रिय-विषयता उनकी वास्तवता के ही अंग होने चाहिएं, किन्तु उनकी यह वास्तवता विषयान्तर्गत तत्त्व ही होना चाहिए, निरपेक्ष वास्तवता नहीं। निरपेक्ष वास्तवता केवल विकल्प-विषयों की ही हो सकती है।

विकल्प : विचार : आत्मचेतन चेतना की सहजात इन्द्रिय कहा जा सकता है, क्योंकि विकल्प भी विषय-ग्राहक होते हैं। ये विकल्प और उनके विषय चेतना में उसके बाह्येन्द्रियों से निवर्तन के साथ आविर्भूत होते हैं जिस प्रकार बाह्येन्द्रियां और उनके विषय चेतना के बाह्योन्मुख प्रवर्तन के साथ आविर्भूत होते हैं। ये विषय प्रत्यय-रूप होते हैं। प्रत्ययों को ऐन्द्रिक अर्थों : विषयों-वस्तुओं : के विपरीत बौद्धिक अर्थ कह सकते हैं। किन्तु आत्मचेतन चेतना अनात्मचेतन चेतना से एक और प्रकार से भी भिन्न होती है : यह इन्द्रियार्थों से ही निवर्तित नहीं होती, यह विषयता मात्र से निवर्तित होकर विषयता को विकल्पतया प्रत्युपस्थित करती है। इस प्रत्युपस्थिति में आद्य विषय आत्मा होता है, जो चेतना को जगदुन्मुखता के विपरीत आत्मोन्मुख निवर्तन में अधिगत होता है। इसे चेतना की आत्म-प्रस्तुति भी कह सकते हैं जो आत्म-भावेन होती है, इस प्रस्तुति को अस्मि ↔ अस्मि रूप कहा जा सकता है, जिसमें चेतना प्रत्यङ्मुख होकर अपने को अस्मिता-रूपेण बाह्यत: प्रत्युपस्थित करती है और प्रत्यक्तया, या कहें अविषयतया, आत्मविदित रहती है। आत्मा की विषयतया प्रत्युपस्थिति, जिसे शंकर ने ठीक ही आत्म-प्रत्यय कहा है, चेतना की आत्मोपलब्धि का अनिवार्य उपाय कही जा सकती है।

किन्तु यह एक विचित्र विडंबना है। इसमें मानो चेतना अपनी आत्मा को पाने के लिए अपना इतरत्व रचती है। किन्तु वास्तव में तो चेतना का आद्य प्रवर्तन ही आत्मेतर

भावेन होता है, जिससे अपने प्रत्यङ्मुख निवर्तन में वह अपने को इस इतर से इतर के रूप में देखती है। किन्तु इस इतर का इतर भी इसे इतर रूप में ही मिलता है, जिसे हमने शंकर से शब्द उधार लेते हुए आत्म-प्रत्यय कहा है। किन्तु यह आत्मप्रत्यय अपने अर्थ की गहनता में अपार होता है। यों तो प्रत्यय मात्र ही अपनी अर्थ-गहनता में अनवगाह्य होता है, जैसाकि विज्ञान, दर्शन, काव्य, धर्म, अन्यान्य कला-रूपों और शिल्पों के रूप में अनन्त गवेषणाओं में देखा जा सकता है, किन्तु आत्म-प्रत्यय की गहनता इनसे कहीं अधिक और इनसे आधारभूत रूप से भिन्न प्रकार की होती है — क्योंकि इन सब गवेषणाओं में आत्मा ही गवेषी होती है और उसकी आत्म-गवेषणा इन गवेषणाओं की सार्थकता को उसके लिए सन्देहास्पद बना देती है। यह उद्विग्नता अपने प्रखरतम रूप में **बृहदारण्यक उपनिषद्** में मैत्रेयी के इस प्रश्न में प्रस्तुत हुई है कि ''जो गवेषणा या उपलब्धि मुझे अमरता नहीं देती उसे पाकर मैं क्या करूँगी?'' (येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्?) किन्तु यह अमरता : आत्मा के यथार्थ की निस्संशय सिद्धि : क्या है? वह किसमें मिलती है यदि वह विज्ञान, दर्शन, काव्य, धर्म आदि में नहीं मिलती है तो?

सांख्यकारिकार ईश्वरकृष्ण ने प्रश्न उठाया है कि यह सृष्टि-प्रवर्तन आख़िर क्यों होता है? सांख्य के अनुसार पुरुष स्वरूपसिद्ध है और प्रकृति की स्वयं से जगद्भाव में प्रवृत्ति का कोई अर्थ नहीं बनता : संघार्थपरार्थत्वात् : तब इसका वे समाधान देते हैं कि प्रकृति पुरुष को उसका मुक्त स्वरूप दिखाने के लिए, उसे उसकी पहचान देने के लिए, जगत् रूप में प्रवर्तित होती है।[१] अब, आत्मविश्रान्त और आत्मपूर्ण पुरुष-चेतना के लिए अपना मुक्त स्वरूप देखने के लिए इस बंध-रचना में पड़ने का क्या तुक? सांख्य में इसका कोई तुक नहीं बनता, किन्तु अन्यथा यह देखा जा सकता है कि चेतना की यही नियति है कि वह अपने को पाने के लिए अपने से इतरतया प्रवर्तित हो। इस प्रक्रिया में उसे इस इतरता को अपने ही अन्तर्गतार्थ के रूप में पहचानना होता है। किन्तु कठिनाई यह है कि चेतना का यह अन्तर्गतार्थ वास्तव में ही उसका आत्मेतरत्व होता है जिसे उसे इस रूप में पहचान कर मुक्ति-लाभ करना होता है। जैसाकि हमने पीछे देखा, चेतना का आद्य प्रवर्तन देह और इन्द्रियों को रचकर इनके माध्यम से इनके विषयों में अपने को पाने के रूप में होता है। इस अवस्था में देह और इन्द्रियां ही आत्मा और इनके विषय उपकारक-अपकारक रूप में आत्मीय और अनात्मीय : हेयोपादेय : बनते हैं। चेतना की यह पूर्णत: आत्म-विमुख या परात्मक अवस्था कही जा सकती है। 'यह प्रवर्तन चेतना का आत्मवैमुख्य है' यह बोध चेतना पर स्वयं पर ही प्रकाशित होता है, यद्यपि अत्यन्त कठिन तप के फलस्वरूप, जैसाकि करोड़ों वर्षों के जैव विकास के इतिहास से देखा जा सकता है। **तैत्तिरीय उपनिषद्** ने आद्य प्रवर्तन को 'एक की बहु होने की कामना', कहा है जिसे वह कठोर तपस्या से सिद्ध करती है।[२] किन्तु उसकी यह सिद्धि उसे आत्मेतरत्व में भटकाव के रूप में ही प्राप्त होती है,[३] जिस भटकाव के याथार्थ्य को वह अत्यन्त कठोर यातनाओं के बाद ही देख पाती है। किन्तु गन्तव्य कौन सा है, कौन सा मार्ग युक्त मार्ग है,

यह बोध उस पर कभी निर्णायकतया प्रकाशित नहीं हो पाता। इससे भी अधिक भयावह स्थिति यह होती है कि बोध होने पर भी वह उसका अनुसरण नहीं कर पाता। इस 'बहु होने' की आद्य कामना को ही लें। स्वभावत: इसमें उसे वैपुल्य-लाभ ही होना चाहिए। इसीकी पर्येषणा में वह एक से दो और दो से क्रमश: पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों और इनकी विविध शक्तियों और इनके विषयों को साधती है। रूपों, रंगों, रसों, गन्धों और स्पर्शों आदि का यह अर्थ-वैभव सचमुच अद्भुत है और इसके साथ आनन्दानुभूति समवेत होती है। किन्तु ये सब अर्थ चेतना को आत्म-बहिष्कृति के रूप में ही प्राप्त होते हैं। वह यह तक नही देख पाती कि ये अर्थ *उसके लिए हैं*– वह उनसे तदात्म रहती है, अथवा कहें ये अर्थ उसे आत्मसात् कर रखते हैं। इन अर्थों की परता का मूल इनकी कामना, इनके प्रति आसक्ति में होता है, इस आसक्ति से ही वह बहु हुई है, इस आसक्ति के बिना यह बहुलता किस काम की? कहना चाहिए, इसके बिना यह बहु होगी ही नहीं। किन्तु इस आसक्ति से क्रोध, क्रोध से शत्रु, शत्रु से भय, देह से बुभुक्षा, बुभुक्षा से परस्पर घात यही इस बहुत्व का अर्थ है, और कुछ भी नहीं। इसकी निरर्थकता, बल्कि कहें इसकी परात्मता, इसमें आत्म-पराङ्मुखता देखने की योग्यता, चेतना आत्मचेतन होकर देख पाती है।

आत्मचेतन चेतना के लिए, जैसाकि हमने ऊपर देखा, अपने दैहिक और ऐन्द्रिक अर्थ परोक्ष होकर, अतीन्द्रिय अर्थों : प्रत्ययों : से व्यवहित होकर, प्रस्तुत होते हैं। इस चेतना के लिए ऐन्द्रिक अर्थों का नामाभिधेय होना इसका प्रमाण है। अब, इस चेतना को जो अर्थ अपरोक्षत: प्रस्तुत होते हैं उन्हें विकल्पात्मक कहा जा सकता है। परिणामत: इस चेतना को ऐन्द्रिक विषय भी स्वायत्त वस्तु-रूप, बाह्य देशावस्थित, काल-यापी, परिप्रेक्ष्यात्मक, सर्वगम्य, गुणाश्रय, इतर-व्यावर्तक आदि-आदि रूप में, और सबसे बढ़कर कामादि ऐन्द्रिक अर्थों से निरपेक्ष रूप : अविषयिनिष्ठ रूप : में प्रस्तुत होते हैं। उदाहरणत: सम्मुखस्थित प्रस्तर-खंड मारने के काम आये, मूर्त्ति बनाने के काम आये, या भौतिक अथवा रसायनविज्ञान का अध्येय बने, यह प्रस्तर-नामाभिधेय ही रहता है और इसके ये आयाम इस 'वस्तु' के ही आयाम होते हैं। हम इसका प्रस्तरत्व स्थगित कर इसे एक भौतिक वस्तु के रूप में भी देख सकते हैं, ऐन्द्रिक विषय मात्र के उदाहरण के रूप में भी देख सकते हैं, देव-प्रतिनिधि, या कहें देवाधिष्ठान के रूप में भी देख सकते हैं। इसके ये सब रूपान्तरण और नामान्तरण अतीन्द्रिय विकल्प-लोक में होते हैं। यह लोक अपनी व्यापकता और गहनता में अपार होता है। उदाहरणत: देव-प्रतिमा के रूप में यह 'शालिगराम' होता है और शालिगराम के रूप में यह हिन्दु–पौराणिक लोक का एक सदस्य होता है जिसका स्वरूप इस धार्मिक-पौराणिक लोक के स्वरूप को समझे बिना नहीं समझा जा सकता, और भौतिक रूप में यह परमाणु-संघात के रूप में विश्लेष्य होता है। द्रष्टव्य है कि इसका यह पौराणिक लोक-वास इसकी नामित इन्द्रिय-विषयता के साथ ही रह सकता है। बहुत से दार्शनिक इस सबको कल्पना-लोक, या विषयिता का लोक और इस प्रकार अयथार्थ भी, कहते हैं और तब इन्द्रिय-ग्राह्य लोक को, या किसी

अतीन्द्रिय अनुभवगम्य लोक को यथार्थ लोक कहते हैं। अब, इस दार्शनिक धारणा को समझने के लिए निर्विकल्पक इन्द्रियार्थों के स्वरूप को समझना उपयोगी होगा।

ये निर्विकल्पक अर्थ हमें दो रूपों में प्राप्त होते हैं – या तो विकल्प-बुद्धि से रहित पाशव चेतना के विषयों के रूप में, या पूर्णत: विकल्पावगाही दार्शनिकों के विषय के रूप में। यों तो निर्विकल्पक पाशव विषय भी साधारण मनुष्य और दार्शनिक के लिए विकल्पगम्य रूप में ही उपलभ्य हो सकते हैं, किन्तु इस विडंबना को यदि एक बार हम छोड़ भी दें तो भी यह द्रष्टव्य है कि पाशव चेतना के विषय शुद्ध इन्द्रियगम्य नहीं होते, वे अनादि वासनाओं, काम-क्रोधादि आवेगों तथा संस्कारों से व्यवहित ऐन्द्रिक विषयों के रूप में ही प्राप्त होते हैं। शुद्ध इन्द्रिय विषय तो किसी भी काम के नहीं होते। किन्तु यहां जो विशेष रूप से ध्यातव्य है वह यह कि इन्द्रिय भी चेतना की एक वृत्ति ही है, जैसे वासनाएं और विकल्प हैं। परिणामत: निर्विकल्पक इन्द्रिय-विषय परमार्थ सत् के प्रापक नहीं हो सकते, वे इन्द्रिय-कल्पित ही हो सकते हैं। परमार्थ सत् के अव्यवहित प्रापक इन्द्रिय-विषय केवल बुद्ध के गम्य : बुद्धानां विषया: : ही हो सकते हैं, जैसाकि वसुबन्धु कहते हैं। अब, जहां तक दार्शनिकों के इन्द्रिय-विषयों का प्रश्न है, उन तक पहुँचने के दो आदर्श प्रयत्न कांट और वसुबन्धु में देखे जा सकते हैं। स्पष्टत: ये प्रयत्न विकल्प द्वारा अपने से उत्तीर्ण होने के प्रयत्न ही कहे जा सकते हैं, जो प्रयत्न विकल्प-चेतना का सहज धर्म है। विकल्प का यह धर्म अर्थों को उनके यथारूप में पाने का प्रयत्न ही होता है, जिस प्रयत्न को यदि निराधार कहें तो संपूर्ण दार्शनिक प्रयत्न को ही नहीं वैज्ञानिक प्रयत्न को भी निराधार और मृग-तृष्णा मात्र कहना पड़ेगा। जैसाकि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, तथाकथित निर्विकल्पक इन्द्रिय-विषय विकल्प द्वारा इन्द्रियार्थों के शुद्ध स्वरूप के अनुसन्धान से ही लभ्य होते हैं, जो अनुसन्धान विकल्प से अपने अतिक्रमण की अपेक्षा करता है। यह अतिक्रमण विकल्प के आत्मदर्शन : आत्मविषयकरण : के रूप में सम्पन्न होता है, जिसे चेतना पराङ्मुखता के विपरीत प्रत्यङ्मुख निवर्तन के द्वारा साधती है। इस प्रकार निर्विकल्पक इन्द्रिय-विषय विषयता से मुक्त चेतना द्वारा प्रत्युपस्थित विकल्प ही होते हैं।

अब, स्पष्टत: ऐसे इन्द्रियार्थ लोक में, या ऐन्द्रिक चेतना में भी, कहीं प्राप्य नहीं होते, किन्तु तब भी इनकी कल्पना ज्ञान को विपुलतर बनाती है और परिणामत: अपारत: अर्थ-समृद्ध लोकों को संभव करती है, जिन लोकों का हम विभिन्न विज्ञानों, कलाओं और शास्त्रों आदि के रूप में साक्षात्कार करते हैं।

अब, इस कल्पना : विकल्प : के सत्य को लेकर दार्शनिकों में गहरा मतभेद रहा है और आज भी इसमें कोई सहमति नहीं है, न संभवत: कभी होगी। किन्तु ये मतभेद कोई ऐन्द्रजालिक व्यूहमात्र हैं, यह कहना युक्त नहीं होगा, यद्यपि इधर के कुछ यूरोपीय दार्शनिकों ने एक ओर और सब देशों और सब कालों के कवियों, कलाकारों, कर्म-योगियों और प्रेम-पंथियों ने दूसरी ओर इनके लिए ऐसा ही कहा है। किन्तु द्रष्टव्य है कि

विकल्प को इस रूप में देखने वाले दार्शनिक तो केवल ऐसे विकल्प के भीतर से ही ऐसा कह पाते हैं। जहां तक अध्यात्म-साधकों आदि का प्रश्न है, वे भी कोई निर्विकल्पक साक्षात्कारी नहीं होते। मनुष्य की कोई अनुभूति, कोई वेदना, कोई क्रिया ऐसी नहीं होती जो विकल्पपूर्वक नहीं हो। भर्तृहरि ने इसे ही 'शब्दपूर्वक' कहा है।[४] विकल्प से सबसे अछूते सुख-दु:ख-वेदना और गूंगे का आस्वाद कहे जाते हैं, किन्तु ये भी निर्विकल्पक नहीं होते–विषय होने के कारण। इनकी विषयता चेतना द्वारा विषयकृत आत्मा का ही एक गुण होती है। कोई बिना जाने दु:खी हो सकता है–जैसे घायल गाय। वह गाय का दु:ख से तादात्म्य होता है। मनुष्य दु:खी होता है तब उसका आत्मा : उसका दु:ख-तादात्म्य : आत्म-विभक्त होकर अपनी दु:खिता को और दु:खी आत्मा को अपने से पृथक् निरीक्ष्य, विवेच्य, स्वीकार्य-अस्वीकार्य आदि रूपेण प्रत्युपस्थित कर लेता है। यह प्रत्युपस्थित मद्दु:खिता विकल्प-व्यवहित दु:खिता ही होती है। इसे सामान्यगत विशेष भी कह सकते हैं। यहां तक कि यह दु:ख 'सुख-दु:खे समेकृत्वा' वाक्य में गर्भित गहन नीति-मीमांसीय अर्थ का वाहक भी हो सकता है। इस प्रकार यह दु:ख निश्चय ही उस तथाकथित 'वास्तवता' से कट जाता है जिसमें गाय होती है, किन्तु तब एक दूसरी वास्तवता का आविर्भाव होता है जो अपने विस्तार और गहराई में अपार होती है। मनुष्य के विभिन्न सांस्कृतिक प्रयत्न – धर्म, दर्शन, कलाएं, विज्ञान, शास्त्र, यंत्र आदि इसी नयी वास्तवता के अनुसन्धान के प्रयत्न हैं। यहां कलाओं और यांत्रिक आविष्कारों को वास्तवता के अनुसन्धान कहने पर आपत्ति हो सकती है क्योंकि यहां कुछ प्रत्युपस्थित नहीं होता है जिसके स्वरूप को जानना होता है, यहां किसी कल्पना को क्रियान्वित करना होता है, किसी न्यूनता का निवारण करना होता है, किसी अभूत को आविर्भूत करना होता है। एक कलाकृति एक वास्तवता होती है जो चेतना के स्वातंत्र्य से उद्भूत होकर ऐन्द्रिक लोक में ठोस अस्तित्व लेती है। कहा जा सकता है कि कलाकृति के रूप में जबकि इसकी वास्तवता होती है, इसका अस्तित्व ऐन्द्रिक विषयता में होता है, कलाकृति के रूप में इसका कोई अस्तित्व नहीं होता। कलाकृति उन अपार और अनवगाह्य अर्थ-संभावनाओं की धारक भौतिक अस्तित्व होती है जिनमें से एक संभावना कलाकार की चेतना में प्रकाशित हुई होती है। यह बात वास्तव में मनुष्य के संपूर्ण संसार के सम्बन्ध में कही जा सकती है और अन्तत: उसके सम्पूर्ण जीवन के सम्बन्ध में, जो उसकी अपार गुह्य आत्मा की एक संभव अभिव्यक्ति होता है।

वास्तव में मनुष्य के जीवन को भी एक कृति ही कहा जा सकता है, जिसमें वह अपनी आत्मा को क्रियान्वित करता है। यह क्रियान्वयन या सर्जन वह कहां तक सम्यक् कर पाता है यह उसके आत्मा के साक्षात्कार की सामर्थ्य पर और उस साक्षात्कार को ऐन्द्रिय माध्यम : चित्तवृत्तियों और कर्मों : में रूपायित कर पाने की सामर्थ्य पर निर्भर करता है। किन्तु यह आत्मा भी आत्मा की आत्म-प्रस्तुति ही होती है जिसे एक-साथ

अपनी विषयिता में होना और *विषयता में अपने को पाना* होता है। किन्तु अपने को पा वह अपने इतरत्व में ही सकती है।

यह एक असाध्य विरोधाभास है। चेतना का जगद्भाव में प्रवर्तन विषयतया प्रवर्तन ही है जिसमें वह पूर्णत: आत्म-बहिर्भूत रूप में रहती है। इस आत्म-बाह्यता से मुक्ति उसे प्रत्यङ्मुख अतिक्रमण में मिलती है, किन्तु यहां पुन: उसे अपने को विषय रूप में ही पाना होता है, यद्यपि इस बोध के साथ कि वह यह नहीं है। यह एक प्रकार से दर्पणगत आत्म-प्रतिबिंब में अपने को देखने जैसी बात होती है। हम अपना चेहरा दर्पणगत प्रतिबिंब में ही देख सकते हैं, किन्तु केवल तभी जब हमें इस बिम्ब के चेहरा नहीं होने का बोध हो। इस बोध के बिना हम बिंब को 'मेरा बिंब' रूप में नहीं जान सकते। किन्तु प्रत्युपस्थित आत्मा की बिंब से यह उपमा बहुत सीमित रूप में ही सही कही जा सकती है। वास्तव में हम अब भी विषय-जगत् में ही तादात्म्य-भाव से रहते हैं, केवल अब विषयों का प्रकार भिन्न होता है–हम धन में, यश में, ज्ञान में, कला में, कर्म में, अध्यात्म में आत्मभाव से रहते हैं। **बृहदारण्यक उपनिषद्** में यह परिस्थिति ' न हि पत्यु: कामाय पति: प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पति: प्रियो भवति ...' में बहुत व्यंजक रूप से कही गई है। महात्मा बुद्ध ने नैरात्म्य का उपदेश शायद इस आत्मेतर से तादात्म्य से मुक्ति को लक्षित करके ही दिया था। किन्तु यह आत्मा क्या है?

मनुष्य में आत्म-अनात्म का विवेक उसमें नैतिक बोध के रूप में व्यक्त होता है जिस प्रकार जीव में व्यवहार की सफल-असफल निष्पत्ति सत्-असत् बोध की आधार बनती है। नैतिक बोध अपनी मूलगामिता में हमारी प्रवृत्तिमात्र के प्रति यह प्रश्न खड़ा कर देता है कि क्या यह मेरे अनुकूल है? मैत्रेयी द्वारा धन-धान्य प्रस्तुत किया जाने पर उसे इस आधार पर अस्वीकार कर देना कि 'जिससे मैं अमरता-लाभ नहीं कर सकती उसे लेकर मैं क्या करूँगी?' इस आत्म-अनात्म विवेक का ही द्योतक है। किन्तु आत्मा के अनुकूल क्या है, यह हम कैसे जानें? अर्थ-क्रिया-कारित्व सत्-असत्-निर्णय की कसौटी है किन्तु यह आत्मानुकूलता की कसौटी भी हो सकता है। गाय के लिए घास दृष्टि-स्पर्श-रस आदि का विषय होने के साथ आस्वाद-सुख और बुभुक्षा-तृप्ति का प्रदायक भी होता है, चमकती रेत में जल-दृष्टि दोनों अर्थों में मृग-तृष्णा होती है। जीव के जगद्भाव मात्र को मृग-तृष्णा इसी उपमा पर कहा गया है। किन्तु जगत् सत्-असत् पक्ष में अर्थ-क्रियाकारी होने पर भी मृग-तृष्णा क्यों है? 'यह अनात्म है इसलिए इसमें आत्म-भाव मृग-तृष्णा है' यह बोध भी मनुष्य में ही उत्पन्न होता है और अत्यन्त दुर्निवार रूप में उत्पन्न होता है। किन्तु यह जगत् मृग-तृष्णा या 'आत्मा के स्वरूप के प्रतिरूप' क्यों प्रकट होता है? जो हो, मनुष्य अपने इस रूप को आत्मा के स्वरूप के प्रतिरूप पाता है। **छान्दोग्य** और **बृहदारण्यक** उपनिषदों में यह प्रश्न उठाया गया है। **छान्दोग्य** में नारद द्वारा सनत्कुमार से आत्मा का स्वरूप बताने के लिए प्रार्थना करने पर सनत्कुमार नारद

से पूछते हैं कि पहले तुम बताओ कि तुम क्या जानते हो? इस पर नारद कहते हैं 'मुझे चारों वेद याद हैं, इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, नृत्य-संगीत आदि सब का ज्ञान है।' नारद और सनत्कुमार के अनुसार ये सब आत्मा के स्वरूप के प्रतिरूप हैं–उससे इतर। इस इतरत्व में दु:ख है। सुख केवल इतरत्व से मुक्ति में है जिसे सनत्कुमार भूमा कहते हैं। तब यह भूमा क्या है? ''जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह भूमा है। किन्तु जहां कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है।'' इस पर नारद पूछते हैं, ''भगवन्! वह (भूमा) किसमें प्रतिष्ठित है?'' सनत्कुमार उत्तर देते हैं–''अपनी ही महिमा में, अथवा अपनी महिमा में भी नहीं। ''(अ. ७, खंड १४) किन्तु इसका क्या अर्थ? वेद : धर्माधर्म-विवेक-ज्ञान :, शास्त्र, विज्ञान, संगीत, काव्य, शिल्प आदि ये क्या आत्मा की अपनी महिमा का भूमाकरण नहीं हैं? ये अन्य कैसे हैं? ये आत्मा का 'अपने में आप' कैसे नहीं हैं? 'प्रकृति' के माध्यम से आत्म-विवेचित हुए बिना, उसके दर्पण में अपनी महिमा का प्रतिबिंब देखे बिना, और उस देखने में अपना अतिक्रमण साधे बिना वह अपने कैवल्य की विपन्नता में भूमा कैसे होगा? अपनी उस विपन्नता को छोड़ अपने में अनदेखे पड़े वैभव को पाने के लिए ही तो वह वेद, शास्त्र, काव्य, संगीत आदि रूपों में विस्फुट हुआ?

किन्तु जैसाकि हमने आरंभ में देखा, चेतना प्राकृतिक-भाव को उत्तीर्ण कर ही आत्मचेतन होती है और तब उन अन्य अर्थों का साक्षात्कार करती है जिनका ज्ञान नारद को है और जिस ज्ञान को भी वे अनात्म देखते हैं। किन्तु यह ज्ञान चेतना के लिए स्वयं में अपार अर्थ-राशियों के लोक उद्घाटित करता है। ये अर्थ हमारे ग्रहण से स्वतंत्र सत्य होते हैं और इनका हमारा अवगमन अपर्याप्त और असत्य होने की संभावना लिए होता है। दूसरे शब्दों में ये यथातथ होते हैं। किन्तु तब भी ये अर्थ चेतना के अन्तर्गतार्थ ही होते हैं। चेतना इनका अपने भीतर अपने अन्तर्गतार्थ रूप में साक्षात्कार करती है, कहें, इनमें अपनी अभिव्यक्ति पाती है। विज्ञान, धर्म, दर्शन, काव्य, संगीत, समाज-व्यवस्था आदि सब इसी चेतनागर्भ अर्थ-राशि के चेतना द्वारा प्रत्यङ्मुखता में साक्षात्कृत अर्थ होते हैं। किन्तु तब भी ये आवरण के अपसारण की प्रतीक्षा में, अपसारण से किंचित् विवृत, असम्यक् विवृत होते हैं। काव्यार्थों के साक्षात्कार से व्यक्ति कवि बनता है, वैज्ञानिक अर्थों के साक्षात्कार से वैज्ञानिक बनता है, सांगीतिक अर्थों के साक्षात्कार से गायक आदि बनता है–दूसरे शब्दों में ये चेतना में रूपान्तरण घटित करते हैं। ये सब चेतना की अभिव्यक्तियां भी कहे जा सकते हैं। यों देह, इन्द्रियां आदि और इनके अर्थ भी चेतना की अभिव्यक्तियां ही होते हैं, जैसाकि हमने पीछे देखा। किन्तु आत्मचेतन चेतना की अभिव्यक्ति आत्मबोधपूर्वक होती है और आत्म-बोध अधिष्ठातृत्व, कर्त्तृत्व, ज्ञातृत्व के बोधपूर्वक होता है जो स्वयं विषयी के साथ विषय भी होते हैं, जिसे हमने पीछे चेतना की

द्वि-उन्मुखता '↔' के रूप में प्रस्तुत किया था। अब, चेतना की अभिव्यक्ति मात्र का यह स्वरूप है कि वह अर्थरूपेण प्रकाशित होती है किन्तु वे अर्थ कभी पूर्णत: सम्यक् और पूर्णतया प्रकाशित नहीं हो पाते। सबसे बड़ी बात कि वे अयथार्थतया भी प्रकाशित हो सकते हैं। जगत्, या कहें जगद्भाव, चेतना का वास्तव काम्य नहीं था, यह चेतना ने अपनी इस अर्थ में अभिव्यक्ति के अनन्तर और दारुण कष्टकर भटकावों के अनन्तर ही पाया—यदि कभी कहीं पाया तो! किन्तु इस नकारात्मक बोध से वह अपने गवेष्य अर्थ के याथार्थ्य के संबंध में निस्संदिग्ध हो सकी या हो सकती है, यह तो कहना संभव प्रतीत नहीं होता। हम अपने काम्य अर्थों के ऐन्द्रिक रूप तक के सम्बन्ध में असन्दिग्ध नहीं हो पाते कि यही है जो हमें ऐन्द्रिक सन्तोष देगा। प्राय: ही काम्य मानकर अन्वेषित अर्थ को पाकर हम देखते हैं कि यह वह तो नहीं है जिसके पीछे हम भाग रहे थे। **बृहदारण्यक उपनिषद्** में जो मंत्र है–'न वा अरे, पत्यु: कामाय पति: प्रियो भवत्यात्मनस्तुकामाय पति: प्रियो भवति ...' वास्तव में चेतना की इस मूलगामी भ्रान्ति का ही आख्यान करता है। किन्तु यह मंत्र यह तो सम्यक् रूप से बता पाता है कि इस भ्रान्ति का रूप क्या है, किन्तु निर्भ्रान्त काम्य क्या है यह कोई मंत्र नहीं बता पाता। वह कहता है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्य:।' किन्तु कौन आत्मा? पहले हम पति, पुत्र आदि के रूप में आत्मा को ही तो खोज रहे थे? इस खोज से त्रस्त होकर चेतना ने आत्मचेतना के रूप में जगत् से निष्कृति चाही, इस निष्कृति ने उसे ऐन्द्रिक अर्थों से भिन्न और वैभव में अपार और अनवगाह्य अर्थ तो दिये किन्तु कौन सा अर्थ उसका काम्य है–साध्य है, उसे अमरता देगा इसका कोई निश्चित समाधान उसे मिला या मिल सकता है, ऐसा कहना कठिन जान पड़ता है। आत्मचेतन चेतना के रूप में जगद्भाव से निष्कृति उसके लिए जिन अतीन्द्रिय, या कहें प्रत्ययात्मक अर्थों की प्रापक होती है उनकी अभिव्यक्ति के क्रम में संस्कृतियों, सभ्यताओं, उपकरणों, व्यवस्थाओं और कृतियों आदि के रूप में नयी लोक-रचनाएं होती हैं। इन लोकों का वासी होने से मनुष्य को पूर्णत: अप्राकृतिक, बल्कि अतिप्राकृतिक प्राणी कहा जा सकता है। किन्तु उन लोकों में भी वह निर्भ्रान्त रूप से अपने को ही पाता है, यह कहना संभव नहीं होता। नारद को ये अर्थ अनात्म ही दिखायी दिये थे, यह हमने पीछे देखा। और मनुष्य का सभ्यता का इतिहास इसका प्रमाण है कि वह किसी सत्य को पाने में कुछ भी आगे बढ़ा है, ऐसा दिखायी नहीं देता।[५]

किन्तु चेतना इन अर्थों में अर्थवती होती है, यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है। यों चेतना ऐन्द्रिक अर्थों में भी अर्थवती होती ही है, किन्तु उसके लिए ये अर्थ जैव प्रयोजनपर्यन्त ही होते हैं। जैसे गाय के लिए घास बुभुक्षापर्यन्त ही अर्थवान् होती है, इसके आगे कुछ नहीं। और ये अर्थ भूख, प्यास, छीना-झपटी, भय, पीड़ा आदि में पर्यवसायी होते हैं। इन्द्रियां, वासनाएं और उद्वेग ये ही उसके लिए अर्थ-द्वार होते हैं। इसके विपरीत आत्मचेतन चेतना के अर्थ अपार और अनवगाह्य होते हैं। इसीसे हम इनके अवगमन में

किसी भी सीमा तक आगे और गहरे जाकर भी अधूरे ही रहते हैं और इस अवगमन में असम्यक् और भ्रान्त तक हो सकते हैं।

किन्तु ये अर्थ आत्म-प्रापक नहीं होते, उसी प्रकार जिस प्रकार इन्द्रियार्थ आत्म-प्रापक नहीं होते, यह नारद ने ठीक ही देखा था। एक वेद-वेत्ता, एक आईंस्टीन, तानसेन या कालिदास अर्जुन के समान कर्त्तव्य-विमूढ़ और दुर्योधन के समान अधर्म-विवश हो सकता है। आत्मचेतन चेतना के लिए आत्मा एक स्वतंत्र अर्थ होती है, और यह अन्य सब अर्थों पर व्यापक भी होती है। यह अपने को द्रष्टा विषयी ही नहीं, कर्त्ता और अधिष्ठाता विषयी के रूप में भी प्रतिष्ठित पाती है और अपने को विषयरूप में प्रत्युपस्थित भी पाती है। यह कर्त्ता एक ओर अपनी कृतियों को उनके स्वरूप से सम्यक् बनाने के प्रयत्न में और दूसरी ओर अपने कर्मों और प्रवृत्तियों को अपने स्वरूप से सम्यक् बनाने के प्रयत्न में प्रवृत्त होता है। अर्थों की अपने स्वरूप से यह अनुरूपता इसके लिए साध्य होती है, स्वत:सिद्ध नहीं। **ईशावास्य उपनिषद्** के अनुसार परिभु: स्वयंभु: ईश्वर ने अर्थों को उनके याथातथ्य में शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित किया है। किन्तु मनुष्य को उस ईश्वरकृत याथातथ्य का अनुसंधान करना होता है। सदसद् या श्रेयस्-अश्रेयस् या उचित-अनुचित विवेक का सम्बन्ध इसी याथातथ्य : मनुष्य के अपने अस्तित्व के सत्य, अपने तथ्य के यथात्व : से होता है। यही कारण है कि मनुष्य में जबकि विषयों विषयक अस्ति-नास्ति बोध के समान ही सदसद् तथा श्रेय-अश्रेय और उचित-अनुचित बोध सहज होता है, पशु में इस बोध का नितान्त अभाव होता है।

किन्तु श्रेय क्या है, कौनसी प्रवृत्ति उचित या अनुचित है, कौन सा कर्म करणीय या अकरणीय है यह निर्णय करना जबकि सामान्य रूप से सहज होता है विशेष अवस्थाओं में : अपनी प्रवृत्तियों और कर्मों के सम्बन्ध में : अत्यन्त कठिन होता है। सामान्य रूप से मनुष्य ने अपनी ऐन्द्रिक, या कहें जगदुन्मुख, प्रवृत्तियों को अश्रेय पाया है, संन्यासी को सर्वोच्च स्थान दिया है, किन्तु मनुष्य के जीवन का धारण उसका जगद्भाव ही करता है और परिणामत: उसे अपने इस भाव का श्रेय-बोध के साथ सामंजस्य साधना होता है। मनुष्य की समाज-व्यवस्था, उसके विभिन्न सांस्कृतिक सन्धान उसके इस सामंजस्य-विधान के प्रयत्नों के रूप में देखे जा सकते हैं। किन्तु मनुष्य अधिकांश में अपने इस बोध को स्थगित रखते हुए ही जीवन जीता है। कहा जा सकता है कि यहां उसकी सहज प्रवृत्ति और आत्म-बोध संघर्ष में रहते हैं–उसका मन जिस ओर सहज रूप से जाता है उसका आत्म-बोध उसे उसका अनौचित्य, उसकी उसके स्वरूप से प्रतिरूपता दिखाता रहता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए सदसद् के बीच द्वन्द्व निरन्तर बना रहने पर भी इनके बीच व्यामिश्र की, व्यामोह की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। महाभारत में दुर्योधन का यह प्रसिद्ध कथन कि ''धर्म को जानता हूं किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती, पाप को भी जानता हूं किन्तु उससे अपने को रोक नहीं पाता'' मनुष्य की इस परिस्थिति

को अत्यन्त प्रखरता के साथ प्रस्तुत करता है। किन्तु ऐसा सब अवस्थाओं में नहीं होता। मनुष्य के रूप में वह साधारणतया जानता है कि प्राकृतिक प्रवृत्तियों, जिन्हें 'प्रेय' भी कहा गया है, का परित्याग धर्म है और इस प्रकार निरहंकारता, निर्वैयक्तिकता, राग-द्वेष का परित्याग आदि कर्त्तव्य-निर्णय के लिए मूल कसौटियां हैं, किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में वह इन कसौटियों को नहीं देख पाता। 'कहीं मेरा मोह-त्याग सूक्ष्मतर मोह से ही तो प्रेरित नहीं है, परार्थ-भाव सूक्ष्मतर स्वार्थ-भाव का ही छद्मावरण तो नहीं है, मुक्ति की साधना किसी गहरे, अतर्क्य बन्धन का ही तो छद्म रूप नहीं है, ये निर्णय कर पाना अत्यधिक दुष्कर होता है, असंभव नहीं तो। अहिंसा को अपना मूल अभिनिवेश बनाने वाले महात्मा गान्धी के सम्बन्ध में जड्डू कृष्णमूर्त्ति ने कहा था कि वे सबसे बड़े हिंसक हैं। इसी प्रकार ज. कृष्णमूर्त्ति के सम्बन्ध में भी कोई सन्देह कर सकता है कि उनकी संस्कार-मुक्ति की बात गहरे संस्कारों पर आवरण मात्र है जो शब्द-कौशल से रचा गया है। कबीर ने जो 'माया महा ठगिनी हम जानी' कविता में निरूपित किया है वह वास्तव में ही मनुष्य की परिस्थिति है। महात्मा बुद्ध को जरा, रोग, मृत्यु को देखकर जीवन की अनिवार्य दु:खिता का अनुभव हुआ, जिसको उत्तीर्ण करने के लिए वे घर छोड़कर निकले। इस अभिनिष्क्रमण में उनकी भय, वितृष्णा, जुगुप्सा, हताशा आदि जैसी मन:स्थितियां ही हेतु नहीं थीं बल्कि किसी अतिक्रान्त सत्य का साक्षात्कार ही हेतु था, यह कैसे कहा जा सकता है? निश्चय ही अन्तरावगाहन से, आत्मालोडन से इन मन:स्थितियों को जाना जा सकता है और इनसे मुक्त भी हुआ जा सकता है, सिद्धार्थ की तपस्या और तज्जनित सम्बोधि को ऐसी ही सिद्धि कहा जा सकता है, किन्तु यह सिद्धि ऐसी ही दुष्प्राप्य हो सकती है और इसके बिना बड़े-बड़े विचक्षण साधक भी आत्मवंचना के शिकार हो सकते हैं, यह स्पष्ट है। किन्तु इस तपस्या के बाद भी महात्मा बुद्ध ने जो दृष्टि पायी–सर्वदु:ख और सर्वक्षणिकता की, वह **तैत्तिरीय उपनिषद्** के ऋषि द्वारा साक्षात्कृत सत्य–''आनन्दोब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्धयेव खल्विमानिभूतानि जायन्ते, आनन्देन जाता जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति''– से कम से कम प्रकटत: नितान्त विपरीत है। अब, सत्यविषयक इन दो दृष्टि-भेदों का मूल सम्बोधि में है या मनोभावों में? यदि मनोभावों में है तो ये सत्य की ज्ञापक नहीं हो सकतीं, क्योंकि मनोभाव चेतना की प्राकृतिक वृत्तियां होते हैं, यदि संबोधि में है तो इन दृष्टियों को इस प्रकार नितान्त विपरीत नहीं होना चाहिए! यहां कहा जा सकता है कि संबुद्ध ऋषि और संबुद्ध सिद्धार्थ के साक्षात्कारों में कोई दृष्टि-भेद है, यह कहना ठीक नहीं होगा, यह भेद केवल उनके उस दृष्टि के व्याकरण में है। किन्तु संभवत: यह कहना ठीक नहीं होगा। नितान्त अनुपहित दृष्टियों में भी इस भेद के होने की एक व्याख्या यह हो सकती है कि इस भेद का मूल वैयक्तिक प्रसंग-भेद में हो सकता है–एक व्यक्ति संगीत के माध्यम से नाद-ब्रह्म के रूप में संबोधि पा सकता है, दूसरा जागतिक अर्थों की निरर्थकता देखकर वैराग्य के द्वारा संबोधि पा सकता है, कोई तीसरा उद्दाम प्रेम की निमग्नता में यह संबोधि पा सकता है,

चौथा कोई प्रकृति की विराट्ता और सौन्दर्य से अभिभूत होकर उस भाव में यह संबोधि पा सकता है। प्रेम में भी मीरा, तुलसी, कबीर और हीर या राँझा में भेद है, किन्तु ये भेद उसी प्रकार उपाधि-भेद कहे जा सकते हैं जिस प्रकार ईश्वर की मायोपाधि, जिसमें आत्मा आत्म-रूप दर्शन के लिए अपना प्रतिबिम्ब प्रत्युपस्थित करती है।

कठिनाई चेतना के उस स्तर पर आती है जिस पर हम राग, द्वेष, अहंकार आदि से मुक्त नहीं होते। हम दान देने में अहंकार से या पुण्य-लाभ के स्वार्थ से प्रेरित हो सकते हैं, न्याय करते हुए अनजाने में राग, द्वेष या स्वार्थ से ग्रस्त हो सकते हैं, प्रेम में काम अथवा/ तथा किसी अन्य स्वार्थ से प्रेरित हो सकते हैं।

यहां प्रश्न हो सकता है कि चित्त की ये वृत्तियां आवरण हैं, ऐसा कहने में क्या युक्ति है? ये वृत्तियां भी स्वयं में तो चेतना के लिए 'ज्ञान के द्वार' ही हैं। प्राणियों का जीवन इन्हीं वृत्तियों के द्वारा चलता है। किन्तु चेतना के आत्मचेतन होने पर सत्य के दूसरे ही रूप प्रकट होते हैं जिनके साक्षात्कार के लिए चेतना को इससे ठीक विपरीत दिशा में अग्रसर होना होता है। उदाहरणत: जीव के लिए 'आत्मा' अपने को अहंकार के माध्यम से प्रकाशित करती है किन्तु प्रत्यङ्मुख चेतना के लिए आत्मा के साक्षात्कार में यही वृत्ति सबसे बड़ी बाधक होती है–प्रत्यङ्मुख चेतना को वैयक्तिकता में निर्वैयक्तिकता, अहंता में निरहंता, स्व में निस्स्वता साधनी होती है। चेतना के मूल प्रवर्तन का परित्याग ही वरेण्य है और मूल प्रवर्तन त्याज्य है, इसके लिए मूल युक्ति वही होगी जो आँख के लिए दृश्य वस्तु के रूपात्मक होने के लिए होगी। अहंकार आत्मा को आवृत करता है और आत्मा सार्वभौम है, इस बोध को पाकर ही वह नैतिक अर्थों : वस्तुओं : के स्वरूप को ही नहीं ज्ञानेन्द्रिय-विषयों के (भौतिक विज्ञानगम्य) स्वरूप को भी देख सकती है, यह बात उस पर स्वत: सिद्धवत् प्रकाशित होती है। किन्तु उसके लिए अपने प्राकृतिक उत्तराधिकार से मुक्त हो पाना : अशरीरी, निरुद्विग्न आदि हो पाना : असंभवप्राय होता है, यह भी वह जानती है। किन्तु उसके लिए साध्य यही है, यह उसे दिखायी देता है–यद्यपि उसी सीमा तक जिस सीमा तक वह अपने को मूल प्राकृतिक वृत्तियों से मुक्त कर पाती है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्त्तते लोक:, पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम्। **सांख्यकारिका**, ५८

२. सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। (वल्ली २, अनुवाक ६)

३. यह उपनिषद् का मन्तव्य नहीं है। इस सारे प्रतिपादन का उपनिषदों से कोई सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि यह विचार उपनिषद् के समानान्तर है।

४. न स: प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमाद् ऋते।

५. द्रष्टव्य हमारी **तत्त्व चिन्तन** पुस्तक में इतिहास के स्वरूप विषयक दो लेख।

❑

आत्मस्थ बुद्ध आत्महीन?

अनिलकुमार तिवारी

प्रस्तावना

आत्मस्थ वह है जो स्व-रूप में स्थित हो। स्वरूप में वही स्थित हो सकता है जिसे अपना तथा जगत् की वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का (यथाभूत) ज्ञान हो। महात्मा बुद्ध की गणना ऐसे ही महापुरुषों में की जाती है, 'बुद्ध' शब्द का अर्थ ही है वह व्यक्ति जिसे यथाभूत ज्ञान हो। परन्तु उनके बारे में यह धारणा की जाती है कि उन्होंने आत्मा के सम्बन्ध में किये गये प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया और इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व को ही अस्वीकार किया है। यह विरोधाभासी लगता है कि वास्तविकता का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर मौन रह जाय। इस विरोधाभास के कारण की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है : क्या बुद्ध ने वास्तव में ही आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया था, वह भी ऐसे समय जब शास्त्रीय जगत् में 'आत्मानंविद्धि' अर्थात् 'आत्मा को जानो' ही चर्चा का मुख्य विषय हुआ करता था? क्या इस विषय में कुछ विशेष न कहकर वे कोई उपयोगी संदेश देना चाहते थे? चर्चा शुरू करने के लिए बौद्ध साहित्य से दो प्रमुख संवाद प्रस्तुत करना उचित होगा। एक संवाद[१] में वच्चगोत्त (संस्कृत वत्सगोत्र) महात्मा बुद्ध से पूछते हैं कि क्या आत्मा है? बुद्ध मौन रहते हैं। पुनः प्रश्न किया जाता है कि क्या आत्मा नहीं है? बुद्ध फिर भी मौन रहते हैं। वच्छगोत्त के चले जाने पर बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द उनके मौन रहने का कारण जानना चाहते हैं। बुद्ध कहते हैं कि यदि मैं कहता कि आत्मा है, तो यह शाश्वतवादियों (नित्य और अपरिवर्तनशील आत्मा की सत्ता है) का पक्ष होता, यदि यह कहता कि आत्मा नहीं है, तो यह उच्छेदवादियों (नित्य और अपरिवर्तनशील आत्मा की सत्ता नहीं है और व्यक्ति का अस्तित्व मृत्यु के बाद समाप्त हो जाता है) का पक्ष होता। दोनों ही पक्ष अतिवादी हैं। इसके बाद तथागत बुद्ध आनन्द से पूछते हैं कि यदि मैं स्वीकारात्मक उत्तर देता तो क्या यह मेरे उस उपदेश के विरुद्ध नहीं होता जिसमें मैंने समस्त धर्मों[२] के अनात्म होने का संदेश दिया है (सब्बे धम्मा अनत्ता)? इसके विपरीत, यदि मैं नकारात्मक उत्तर देता, तो क्या पहले से ही भ्रमित वच्छगोत्त और भी दिग्भ्रमित न होता और सोचता कि क्या जो 'उसकी आत्मा है उसका अस्तित्व नहीं है?' आनन्द इन संभावनाओं से सहमति जताते हैं।

स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में भावात्मक या निषेधात्मक उत्तर देने के प्रति आशंका व्यक्त करते हैं। इस आशंका का क्या अर्थ

निकाला जा सकता है? क्या 'आत्मा का अस्तित्व है' यह कहना वास्तव में उनके व्यक्त अभिमत, अर्थात् जो कुछ उपदेशित किया, से असंगत होता? एक अन्य संवाद[३] में निम्नलिखित प्रश्न किये गये, इन्हें 'अव्याकृत प्रश्न' कहा जाता है :

(१) क्या जगत् नित्य है?, (२) क्या जगत् अनित्य है?, (३) क्या जगत् अपरिमित है?, (४) क्या जगत् परिमित है?, (५) क्या जीव शरीर से पृथक् है?, (६) क्या जीव शरीर से अभिन्न है?, (७) मृत्यु के बाद क्या तथागत का अस्तित्व रहता है?, (८) मृत्यु के बाद क्या तथागत का अस्तित्व नहीं रहता है?, (९) मृत्यु के बाद क्या उनका अस्तित्व रहता है और नहीं भी रहता है?, (१०) मृत्यु के बाद क्या तथागत न तो अस्तित्ववान् रहते हैं न ही अस्तित्ववान् नहीं रहते हैं?

इन प्रश्नों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए बुद्ध ने कहा कि इन प्रश्नों का एक अर्हत के लिए कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि वह अज्ञान और मिथ्यादृष्टि से परे रहकर अन्तर्दृष्टि द्वारा वास्तविकता को समझता है। प्रश्न उठता है कि यदि बुद्ध वास्तविकता को समझते थे तो उन्होंने इन प्रश्नों का कोई सीधा उत्तर क्यों नहीं दिया? मिलिन्द प्रश्न में नागसेन ऐसे ही सन्दर्भ में कहते हैं कि बुद्ध द्वारा इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर न देना अज्ञानवश या किसी चीज़ को छिपाना नहीं है, बल्कि इनके उत्तर देने का कोई कारण या विषय नहीं है, और बुद्ध का यह स्वभाव है कि वे बिना किसी कारण या विषय के नहीं बोलते।[४] क्या वास्तव में बुद्ध को इन प्रश्नों में कोई अर्थ नहीं दिखायी दिया? हो सकता है कि एक अर्हत के लिए इनका कोई महत्त्व न हो परन्तु एक जिज्ञासु के लिए, एक दार्शनिक के लिए तो इनका विशेष महत्त्व है! कहा जाता है कि तत्त्वबोध का एक रास्ता तर्क-वितर्क भी है (वादे वादे जायते तत्त्वबोधः)। इसके द्वारा जिज्ञासा की तृप्ति होती है और मन शान्त होता है, जो कि वास्तविकता जानने का प्रथम सोपान है। क्या बुद्ध इन प्रश्नों के विषय का परीक्षण करने की आवश्यकता भी नहीं समझते? उल्लेखनीय है कि अंगुत्तरनिकाय[५] में बुद्ध ने किसी भी बात को बिना परीक्षण किये ही स्वीकार करने के प्रति सचेत किया है। यदि बिना परीक्षण के किसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता तो इसी तर्क से उसके अस्तित्व को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। तब क्या यह कहना उचित होगा कि बुद्ध ने आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार किया है, या कि उन्होंने इससे सम्बन्धित प्रश्न का परीक्षण ही नहीं किया?

पूर्वोक्त दोनों दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है कि बुद्ध आत्मा के बारे में किये गये प्रश्नों पर बिल्कुल मौन नहीं रहे। पालि साहित्य के ये दृष्टान्त इस धारणा को निराकृत करते हैं कि बुद्ध आत्मा के सम्बन्ध में कुछ नहीं बोले। परन्तु वे जो कुछ बोले उससे उनके आत्मा संबंधी अभिमत के बारे में क्या कुछ सार्थक ढंग से कहा जा सकता है, इसी पर विचार करने का इस लेख में एक विनम्र प्रयास किया जा रहा है।

क्या है अत्ता ?

तथाकथित अव्याकृत प्रश्नों में अधिकांश प्रश्नों का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में 'आत्मा' से है। पालि बौद्ध साहित्य में आत्मा के लिए प्राय: 'अत्ता' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'अत्ता' शब्द का प्रयोग अन्य सन्दर्भों में भी मिलता है, जैसे अत्तकाय अर्थात् भौतिक शरीर या अत्तभाव अर्थात् व्यक्तित्व।[६] उपर्युक्त दोनों दृष्टान्तों में क्रमश: 'अत्ता' और 'जीव' शब्दों का प्रयोग हुआ है जो कि एक ही अर्थ में लेना चाहिए। इनका समानार्थी एक अन्य शब्द 'वेदगु' मिलिन्द-प्रश्न[७] में मिलता है। इस लेख में 'अत्ता', 'वेदगु' और 'जीव' को समानार्थी स्वीकार किया गया है और इनका अर्थ आत्मा, जो कि निराकार, निष्क्रिय और शुद्ध चैतन्य माना जाता है, स्वीकार किया गया है। 'पुग्गल' (संस्कृत में पुद्गल) भी कहीं-कहीं जीव शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का व्यापक प्रयोग व्यक्ति या उसके सारतत्त्व का निर्देश करने हेतु किया गया है। उत्तरकालीन बौद्ध ग्रन्थों में व्यक्ति के सारतत्त्व का निर्देश 'विज्ञान' शब्द से भी किया गया है। पुग्गल को कुछ विचारक बौद्ध परम्परा में 'आत्मा' के विकल्प के रूप में भी देखते हैं। संयुक्त-निकाय[८] में पुग्गल के बारे में निम्नलिखित वर्णन हैं :

भाराहवे पञ्चखन्धा, भाराहारो च पुग्गलो
भारादानं दु:ख लोके, भारनिक्खेपनं सुखं ।।२२-१।।

इस उद्धरण के आधार पर यह कहा जाता है कि सम्मितीय और वात्सीपुत्रीय जैसे बौद्ध सम्प्रदायों का यह मानना उचित है कि व्यक्ति की सारत: पञ्चस्कन्धों से अलग सत्ता है और इस प्रकार ये सम्प्रदाय आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। परन्तु सामान्य रूप से 'पुग्गल' शब्द का 'व्यक्ति' के अर्थ में ही प्रयोग किया गया है जिसका अन्य पर्यायवाची 'पुरिस' या 'पुरुष' मिलता है। व्यक्ति एक मनोभौतिक साकल्य है, जिसका विश्लेषण पञ्चस्कन्धों के रूप में किया जा सकता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान संयुक्त रूप से पञ्चस्कन्ध कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त व्यक्ति के अस्तित्व का आधार आत्मा जैसी कोई नित्य सत्ता है, इसका कोई तार्किक प्रमाण नहीं है।

मौन का अर्थ

स्पष्टत: अनुत्तरित तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों पर बुद्ध का जो भी मंतव्य रहा हो, उनकी व्यक्त या अव्यक्त प्रतिक्रिया के आधार पर अनेक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। जैसे (१) वे उन प्रश्नों का उत्तर ही नहीं जानते थे, (२) वे उत्तर के बारे में अनिश्चित थे, (३) वे प्रश्नों के अर्थ पर ही संदेह करते थे, (४) वे उत्तर देने के अनिच्छुक थे, या (५) वे इन प्रश्नों के उत्तर देना आवश्यक नहीं समझते थे।इन निष्कर्षों का आत्मा के सन्दर्भ में कुछ विस्तार से विश्लेषण करना उचित प्रतीत होता है।

यह सामान्य अवधारणा है कि महात्मा बुद्ध अनात्मवाद का प्रतिपादन करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त वस्तुएं परिवर्तनशील और अनित्य हैं तथा आत्मा जैसी किसी

अपरिवर्तनशील या नित्य सत्ता की अवधारणा निराधार है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक आक्षेप किये गये हैं। राधाकृष्णन् के अनुसार बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद नैतिक जीवन के लिए निराशापूर्ण है। नित्य आत्मतत्त्व के अभाव में नैतिक उत्तरदायित्व की स्थापना नहीं की जा सकती।[९] उनका यह भी मानना है कि महात्मा बुद्ध आत्मा के संदर्भ में उठाये गये प्रश्नों पर मौन रहकर उपनिषदों में स्वीकृत अनिर्वचनीय आत्मा के सिद्धान्त का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। उपनिषदों के अनुसार आत्मा का अवधारणात्मक ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि वह समस्त बौद्धिक कोटियों से परे है (अत: अनिर्वचनीय है)। राधाकृष्णन् प्रारम्भिक बौद्ध परम्परा को औपनिषद विचारधारा का ही परिवर्तित रूप मानते हैं। आगे उनका विचार है कि उत्तरकालीन बौद्ध परम्परा उपनिषद् के विचारों के और नज़दीक आ जाती है, जहाँ निर्वाण का वर्णन चेतना के सार्वभौम बुद्ध से संयोग के रूप में या मनुष्य में बोधि-चेतना के उदय के रूप में किया जाता है।[१०] लेकिन जब राधाकृष्णन् बुद्ध के अनात्मवाद को निराशाजनक मानने के साथ-साथ उन्हें औपनिषद विचारों का ही प्रचारक मानते हैं, तो उनके विचारों में कुछ असंगति दिखायी देती है। जबकि ऐसा है नहीं है। वास्तव में वे बौद्ध परम्परा को अनात्मवादी नहीं बताते बल्कि इसका उल्लेख यह दिखाने के लिए करते हैं कि अनात्मवाद कैसे हमारी धार्मिक और तार्किक जिज्ञासा को संतुष्ट नहीं करता और इसलिए बुद्ध का यह मंतव्य नहीं हो सकता कि आत्मा नहीं है। उनका विश्वास है कि बुद्ध द्वारा उपदेशित ऐसा कोई भी सिद्धान्त नहीं है जिसकी हिन्दू विचार-परम्परा से संगति न देखी जा सके।[११] स्पष्ट है कि राधाकृष्णन् बुद्ध के सिद्धान्तों को वेदान्त की दृष्टि से व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं। उनकी ऐसी व्याख्या को उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदायों द्वारा निर्वाण या शून्यता सिद्धान्त के वर्णन में प्रयुक्त उन शब्दों से बल मिलता है जिनका कि उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म का वर्णन करने में भी प्रयोग हुआ है।

एक प्रसंग में राधाकृष्णन् बुद्ध के मौन की तीन संभावनाओं पर विचार करते हैं : या तो वे आत्मा का अस्तित्व मानते हैं, या उसका निषेध करते हैं, या उसके बारे में सच्चाई नहीं जानते हैं।[१२] वे इस बात को असंभव मानते हैं कि आत्मा की सत्ता का निषेध करने वाली विचार-परम्परा भारतीय जनमानस को प्रभावित भी कर सकती है और इस आधार पर बुद्ध को अनात्मवादी मानने के प्रति आशंका जताते हैं। कीथ जैसे विचारक उन उद्धरणों को गम्भीर नहीं मानते हैं जिसके आधार पर बुद्ध के मौन का निषेधात्मक अर्थ निकाला जाता है। उनका विचार है कि अनेक मत-मतान्तरों से परिचित होने के बाद इस विषय पर बुद्ध किसी तार्किक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके, इसके अलावा उन्हें यह आभास हुआ कि इन विषयों पर वाद-विवाद करने से मन की शुद्धि नहीं हो सकती जो कि निर्वाण के लिए आवश्यक है।[१३] यहाँ कीथ का दूसरा विचार बौद्ध परम्परा की मूल भावना से मेल खाता है। परन्तु यह कहना कि बुद्ध आत्मा या अन्य तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों पर स्वयं

अनिश्चित थे, बौद्ध विचारधारा से असंगत प्रतीत होता है। मिलिन्द प्रश्न में नागसेन ने उनके सर्वज्ञ होने की बात कही है।[१४] पालि बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे और भी उद्धरण पाये जाते हैं जिसके आधार पर बुद्ध के चिन्तन में अनिश्चितता की बात तर्कहीन सिद्ध होती है। एक दृष्टान्त में यह कहा गया है कि बुद्ध ने शिंशिपा वृक्ष की कुछ पत्तियां अपने हाथ में लेकर भिक्षुओं से पूछा कि क्या शिंशिपा-जंगल में इतनी ही पत्तियाँ हैं। भिक्षुओं ने कहा कि और भी बहुत हैं। तब बुद्ध ने कहा कि इसी प्रकार मुझे और भी बहुत-सी बातों का प्रत्यक्ष ज्ञान है, परन्तु मैं उन सबको तुम्हें नहीं बताता हूँ क्योंकि वे दु:ख की निवृत्ति, अज्ञान के निवारण, ज्ञान की प्राप्ति, चित्त की शुद्धि, आत्मज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति में सहायक नहीं हैं।[१५] इस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध को आत्मा के स्वरूप का ज्ञान था परन्तु उसके विचार को वे मुख्य उद्देश्य में सहायक नहीं मानते थे। वेदान्त मत एवं बुद्ध के विचारों में यह एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है कि जहाँ वेदान्त-विचारक आत्मा के ज्ञान को ही मुख्य लक्ष्य मानते हैं और उसके स्वरूप पर विस्तृत चर्चा करते हैं वहीं बुद्ध उसकी चर्चा करना ही उचित नहीं समझते।

यह भी प्रतिपादित किया गया है कि अनात्मवाद, क्षणिकवाद आदि परवर्ती विचार हैं जो कि बुद्ध के मतानुयायियों द्वारा उनकी शिक्षाओं का इतर अर्थ करने से विकसित हुए हैं। बाम के अनुसार बुद्ध का वास्तविक मन्तव्य बाद के बौद्ध विचारकों से अलग प्रतीत होता है, इसीलिए बुद्ध के मत को उन्होंने 'गौतमवाद'[१६] कहा है, जो कि थेरवाद, शून्यवाद एवं विज्ञानवाद से अलग है। उनका मानना है कि बुद्ध ने आत्मा की खोज या उसके स्वरूप पर चर्चा को दु:ख-निवृत्ति के लिए, जो कि प्राणिमात्र का मुख्य ध्येय है, उपयोगी नहीं पाया इसलिए विचारपूर्वक उससे बचने की चेष्टा की है।

उपर्युक्त विवरण से आत्मा के सन्दर्भ में बुद्ध के मंतव्य के बारे में तीन प्रमुख विचार सामने आते हैं : (१) आत्मा के अस्तित्व का निषेध, (२) वेदान्त (उपनिषद्) मत का समर्थन, या (३) आत्मा के सम्बन्ध में चर्चा को आध्यात्मिक लाभ के लिए अनुपयोगी मानना। इन तीनों विचारों का आधार बौद्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों की विभिन्न व्याख्याओं में देखा जा सकता है, किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए इनका संक्षिप्त परीक्षण आवश्यक है।

आत्मा का अस्तित्व नहीं है

बौद्ध दर्शन में सत्ता को परिवर्तनशील माना गया है। यह भी प्रतिपादित किया गया है कि केवल परिवर्तनशील सत्ता में ही प्रभावोत्पादकता होती है, क्योंकि जो वस्तु स्वयं परिवर्तित नहीं हो सकती उसको किसी परिवर्तन का कारण मानना अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है। बौद्ध विचार-परम्परा के अनुसार तार्किक रूप से उसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है जिसमें अर्थक्रियाकारित्व हो (अर्थक्रियाकारित्वं सत्-

लक्षणं)। किसी वस्तु के अर्थक्रियाकारी होने का अर्थ है वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है, अर्थात् स्वयं एक उत्पाद है और अपने ही सदृश अन्य वस्तु को उत्पन्न करने में समर्थ है।[१७] चूंकि औपनिषद आत्मा को अनुत्पन्न, अपरिवर्तनशील एवं अक्रियाशील माना जाता है इसलिए वह किसी वस्तु पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती और जगत्-व्यापार में उसकी कोई भूमिका स्वीकार नहीं की जा सकती। अन्य कारणों से आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी राधाकृष्णन् ने इस बात को माना है कि व्यक्ति के जीवन के इतिहास में, जिसका कि वह निष्ठापूर्वक साथ निभाती है, आत्मा की कोई विशेष भूमिका नहीं है।[१८] एक बौद्ध मतानुयायी प्रसन्न होकर कहेगा कि इस प्रकार जगत् में उसका अस्तित्व भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त तर्क को युक्तिपूर्वक इस प्रकार बताया जा सकता है :

१. सभी क्रियाशील तत्त्व परिवर्तनशील हैं।
आत्मा परिवर्तनशील नहीं है।
अत: आत्मा क्रियाशील तत्त्व नहीं है। AEE-2

२. सभी अस्तित्ववान् तत्त्व क्रियाशील हैं।
आत्मा क्रियाशील नहीं है।
अत: आत्मा अस्तित्ववान् तत्त्व नहीं है। AEE-2

उपर्युक्त दोनों युक्तियां वैध हैं। परन्तु यहां एक आपत्ति की जा सकती है। इन युक्तियों में सत् या अस्तित्ववान् की एक ही परिभाषा स्वीकार की गयी है। भारतीय विचार-परम्परा में प्रमुख रूप से सत् की तीन परिभाषायें मिलती हैं : बौद्ध परम्परा की परिभाषा, जिसे उपर्युक्त युक्तियों में प्रयुक्त किया गया है अर्थात् अस्तित्ववान् प्रभावकारी है, जैन परम्परा की परिभाषा, जिसमें सत् को उत्पत्ति-स्थिति-विनाशयुक्त बताया गया है,[१९] अद्वैत वेदान्त की परिभाषा जिसमें सत् को त्रिकालाबाधित अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य में अपरिवर्तित बताया गया है। पहली परम्परा के अनुसार परिवर्तन ही सत् है, दूसरी परम्परा के अनुसार परिवर्तन सत् का एक पक्ष है जबकि तीसरी परम्परा परिवर्तन को मिथ्या मानती है तथा अपरिवर्तनशील की ही वास्तविक सत्ता मानती है। अब प्रश्न उठता है कि सत् के स्वरूप के बारे में इतने विरोधाभासी विचार क्यों हैं जबकि सामान्य धारणा यह है कि सत् एक ही हो सकता है? जब सत् एक ही माना जाता है तो उसके वर्णन में भी एकरूपता या कम-से-कम सुसंगति की अपेक्षा करना तर्कपूर्ण है। परन्तु इस सम्बन्ध में विचारधाराओं में अन्तर हस्तामलकवत् स्पष्ट है। यदि यह कहा जाय कि अनेक विचारक एक ही सत् को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखते हैं और सभी में आंशिक सत्यता है, तो समस्त विचारकों को आत्मा के सम्बन्ध में जैन मत सर्वसम्मति से स्वीकार्य होना चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि जैन मत के समर्थक बहुत ही कम हैं। क्या यह कहना उचित होगा कि आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ भी सार्थक ढंग से कहा नहीं जा सकता, अथात् इसका स्वरूप अनिर्वचनीय है?

क्या बुद्ध आत्मा को अनिर्वचनीय मानते हैं?

बुद्ध के तथाकथित मौन का यह भी अर्थ निकाला गया है कि वे आत्मा के स्वरूप को अनिर्वचनीय मानते थे और इस प्रकार वेदान्त मत का ही समर्थन करते थे। 'आत्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय है' यह एक संश्लिष्ट कथन है जिसमें दो बातें निहित हैं : (१) आत्मा का अस्तित्व है, तथा (२) उसके वास्तविक स्वरूप का तार्किक निर्वचन नहीं किया जा सकता है। अर्थात् 'आत्मा अनिर्वचनीय है' यह कथन आत्मा के अस्तित्व की प्रागपेक्षा रखता है। परन्तु बुद्ध-वचनों में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिससे आत्मा के अस्तित्व के बारे में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा जा सके। दूसरी बात यह कि तथागत ने स्पष्ट रूप से शाश्वतवादियों के मत को अतिवादी कहा है और उसे अपने अभिमत से असंगत बताया है। आत्मा को अनिर्वचनीय कहने में एक अन्य समस्या भी है, वह यह कि यदि आत्मा को अनिर्वचनीय कहा जाय तो यह भी एक निर्वचन होता है और तब आत्मा अनिर्वचनीय विशेषण से युक्त होकर निर्गुण नहीं रह जाती है। अत: निर्गुण आत्मा को अनिर्वचनीय मानना स्वयं में एक विरोधाभास है। चूँकि बौद्ध परम्परा प्रत्येक बात को तभी स्वीकार करने की प्रवृत्ति रखती है जब वह तर्कबुद्धि की कसौटी पर खरी उतरे, इसलिए बुद्ध के मौन को निर्गुण एवं अनिर्वचनीय आत्मा की स्वीकृति मानना उनके विचारों पर एक विरोधपूर्ण सिद्धान्त का आरोपण है। इस तर्क के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अनिर्वचनीयता आत्मा का कोई विशेषण नहीं है बल्कि इस अभिधान के द्वारा उसके उस स्वरूप का निर्देश किया जाता है जो कि हमारी प्रत्येक बौद्धिक अवधारणा से परे है।[२०] वास्तव में आत्मा के स्वरूप को जानने के पहले उसके अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है,[२१] और यही मान्यता बौद्ध विचारधारा से मेल नहीं खाती है, क्योंकि यहाँ बिना परीक्षण के अस्तित्व को स्वीकार करना एक असंगत बात है। प्रश्न उठता है कि क्या आत्मा के अस्तित्व को तर्क द्वारा जाना जा सकता है?

आत्मा की तार्किक खोज : एक निरर्थक प्रयास

आत्मावादी दर्शनों में आत्मा के अस्तित्व को बिना किसी परीक्षण के ही नहीं मान लिया गया है। उसके अस्तित्व के लिए अनेक तर्कों का सहारा लिया गया है। जैसे किसी ज्ञान, क्रिया या भोग के लिए किसी ज्ञाता, कर्त्ता या भोक्ता का होना आवश्यक है। सांख्य दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है;

संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।।१७।।

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्णरचित।

अर्थात् महदादि-संघात के परापेक्षी होने से, त्रिगुणात्मिका प्रकृति के विपरीत निर्गुण तत्त्व के रूप में, प्रकृति की व्यवस्था के नियामक के रूप में, एवं मुमुक्षुत्व के आश्रय के

रूप में आत्मा (पुरुष) का अस्तित्व सिद्ध है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान सहित सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न को आत्मा का गुण माना जाता है तथा इन गुणों को आत्मा के अस्तित्व का संकेतक माना जाता है (सुखदु:खेच्छा-प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि, ३.२.४ **तत्त्वार्थवार्तिकम्** – भट्ट अकलंकदेव) वेदान्त में आत्मा के अस्तित्व को असंदिग्ध माना जाता है, यह समस्त तर्कों की प्रागपेक्षा के रूप में वर्णित है। यह विषयी है और केवल अहंप्रत्यय का विषय होती है, अर्थात् 'मैं हूँ' यह कथन ही इसके होने का प्रमाण है। इन समस्त दर्शनों में आत्मा के स्वरूप की मान्यता में महत्त्वपूर्ण अन्तर होते हुए भी एकमत से उसे निरवयव एवं अपरिवर्तनशील माना जाता है। यह तर्क किया गया है कि ऐसे निरवयव एवं अपरिवर्तनशील तत्त्व को न मानने पर हम पुनर्जन्म, कर्मसिद्धान्त एवं मोक्ष की व्याख्या नहीं कर पायेंगे, जो कि समाज की नैतिक-व्यवस्था का आधार भी है। **कठोपनिषद्** में कहा गया है कि आत्मा का ज्ञान आत्म-साक्षात्कार किये हुए व्यक्ति से ही हो सकता है, किसी अवर व्यक्ति के उपदेश से नहीं। यह अत्यन्त सूक्ष्म और सभी तर्कों से परे है।[२२] यदि आत्मा तर्कों से परे एवं अनिर्वचनीय है तो उसके अस्तित्व को सिद्ध करना या उसके बारे में चर्चा करना एक तरह से अनावश्यक है। परन्तु इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसा करने से जहाँ एक ओर साधक का विश्वास दृढ़ होता है वहीं दूसरी ओर विपक्षियों द्वारा किये गये आक्षेपों का खंडन भी होता है। प्रश्न उठता है कि क्या आत्मा के अस्तित्व का निर्देश करने वाले गुण वास्तव में अपने उद्देश्य में सफल होते हैं?

जिन गुणों के आधार पर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है बौद्ध विचारक उनकी व्याख्या के लिए आत्मा की संकल्पना अनावश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि किसी ज्ञान की प्राप्ति हो रही है या किसी विशेष भाव का अनुभव हो रहा है, इससे केवल इनका होना ही सिद्ध होता है न कि इनको धारण करने वाली किसी सत्ता के अस्तित्व का। शंकराचार्य स्मृति के आधार पर अपरिवर्तनशील आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। उनका मानना है कि यदि व्यक्ति में कोई अपरिवर्तनशील तत्त्व का अस्तित्व न हो तो एक समय अनुभूत दृश्य का पुन: स्मरण नहीं हो सकता है। परन्तु स्मृति की व्याख्या करते समय यह पहले ही मान लिया जाता है कि कोई तत्त्व है जो अनुभव के समय विद्यमान था और अब उसे याद कर रहा है। इसे एक उदाहरण से और स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए कोई व्यक्ति बीस वर्ष पूर्व हुई एक दुर्घटना को आज याद करता है जिसमें वह बाल-बाल बचा था। इस स्मरण से यह प्रदर्शित होता है कि एक व्यक्ति 'अ', जो दुर्घटना में बाल-बाल बचा था, वही आज उस घटना को याद कर रहा है। यहाँ जिस तथ्य को हम सिद्ध करना चाहते हैं उसके अस्तित्व को पहले ही स्वीकार कर लेते हैं (सिद्धसाधन-दोष)। अत: जब स्मृति आत्मा की अपेक्षा रखकर ही होती है तो उसके अस्तित्व को कैसे सिद्ध कर सकती है? इसी तरह पुनर्जन्म और निर्वाण की व्याख्या करने में किसी

नित्य या अपरिवर्तनशील तत्त्व की मान्यता को आवश्यक नहीं माना गया है। पूर्ववर्ती चेतन अवस्था उत्तरवर्ती चेतना को उसी प्रकार उत्पन्न कर देती है जिस प्रकार दीपक की एक लौ अगली लौ को जाग्रत कर देती है। **मिलिन्द-प्रश्न** में एक संवाद[२३] मिलता है जिसमें राजा मिलिन्द नागसेन से प्रश्न करते हैं कि क्या भन्ते (नागसेन) का पुनर्जन्म होगा? नागसेन कहते हैं कि यदि मृत्यु के समय मेरे भीतर इच्छा (वासना) अवशिष्ट रहती है तो पुनर्जन्म होगा, अन्यथा नहीं। अर्थात् वासनाजन्य संस्कार के अवशिष्ट रहने तक जन्म-मृत्यु की प्रक्रिया चलती रहती है। इन संस्कारों का संवहन नित्य परिवर्तनशील चेतना-प्रवाह के माध्यम से होता है। इस प्रकार बौद्ध विचारक बिना किसी नित्य तत्त्व को संज्ञान में लेते हुए भी उन अवस्थाओं की व्याख्या करते हैं जिनके लिए आत्मा जैसे नित्य तत्त्व की संकल्पना की जाती है। क्या ऐसी व्याख्या से यह निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि बुद्ध नित्य अपरिवर्तनशील आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते हैं? उत्तर में शायद एक अन्य प्रश्न ही मिलेगा कि ऐसा मानना क्यों आवश्यक है?

बौद्ध परम्परा में आत्मा की खोज के बजाय मन या चित्त के विश्लेषण पर विशेष बल दिया गया है। चित्त का जितना सूक्ष्म विश्लेषण बौद्ध साहित्य के एक ग्रन्थ अभिधर्मकोश में पाया जाता है उतना गहन विश्लेषण शायद भारतीय दार्शनिक वाङ्मय के किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं है। इससे इस दर्शन में मन या चित्त के महत्त्व को समझा जा सकता है। हिन्दु-विचार-परम्परा में भी मन को बन्धन और मोक्ष का कारण माना गया है (मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो:)। बौद्धगीता कहे जाने वाले ग्रन्थ धम्मपद[२४] के शुरु में कहा गया है :

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा
ततो न दुक्खमन्वेति चक्कं वा वहतो पदं ।।१।।

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया
मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा
ततो तं सुखमन्वेति छाया व अनपायिनी।।२।।

अर्थात् मन ही समस्त प्रवृत्तियों का अग्रगामी है। प्रदूषित मन से किया गया कार्य अवश्य दु:ख उत्पन्न करता है जैसे गाड़ी का पहिया निश्चित रूप से गाड़ी खींचने वाले जानवर के पैरों का अनुगमन करता है। इसके विपरीत प्रसन्न मन से किये गये कार्य से सुख वैसे ही स्वभावत: सम्बद्ध होता है जैसे शरीर से छाया। मनुष्य के सभी कार्यों के पीछे सुख प्राप्त करने की भावना दिखायी देती है। सुख की प्राप्ति एवं दु:ख से निवृत्ति ही मानव-जीवन का प्रमुख ध्येय है। बुद्ध ने इसके लिए मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया : सुख की इच्छा का पूर्ण त्याग और प्रत्येक पल सुख की इच्छा दोनों ही स्थितियां अतिवाद हैं। पूरी की जा सकने वाली इच्छा करना एवं पूरी न की जा सकने वाली इच्छा का त्याग ही

मध्यम-मार्ग है। सुख-प्राप्ति का यही सर्वोत्तम मार्ग है। हमारे व्यावहारिक जीवन का यही आदर्श होना चाहिए। पारमार्थिक जीवन के बारे में उल्लेख करते हुए कहा गया है कि आत्यन्तिक दु:ख-निवृत्ति ही मोक्ष या निर्वाण है। इस अवस्था की प्राप्ति वासना के सम्पूर्ण क्षय होने पर होती है। इस अवस्था को सुख एवं दु:ख से सर्वथा परे माना जाता है।

निष्कर्ष

निष्कर्षत: यह कहना उचित होगा कि महात्मा बुद्ध ने आत्मा की सत्ता के बारे में स्पष्ट रूप से कोई चर्चा नहीं की। न तो उन्होंने कहा कि आत्मा है, न ही यह कहा कि आत्मा नहीं है। उनकी इस प्रतिक्रिया का भावात्मक या निषेधात्मक निष्कर्ष निकालना शायद बौद्ध-परम्परा की मूल भावना से हटना होगा। बुद्ध ने उसी के बारे में बात की है जिसके बारे में सार्थक ढंग से कुछ कहा जा सकता है। इसके बाद सत्य को तो स्वयं में खोजना होता है। इसके लिए सत्य क्या है इसकी पूर्वधारणा बनाकर खोज में प्रवृत्त होना अनावश्यक लगता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हम वह खोजते हैं जो खोजना चाहते हैं न कि वह खोजते हैं जो वास्तव में है। जो वास्तव में है उसको यदि अनिर्वचनीय कहें तो यह भी वास्तविकता के बारे में एक पूर्वधारणा हो सकती है, जबकि वास्तविकता समस्त धारणाओं से परे मानी जाती है। वास्तव में हम यह भी नहीं कह सकते कि सत् समस्त कोटियों के परे होता है। इस बारे में शायद माध्यमिक विचारकों का मत बुद्ध के उपदेशों का सही प्रतिनिधित्व करता है जहाँ समस्त वस्तुओं को स्वभाव-शून्य कहा जाता है। अर्थात् वस्तुओं का ज्ञान अवधारणात्मक होता है और अवधारणायें हमारे मन की रचना हैं। हम यह नहीं कह सकते कि उनकी संवादी किसी वस्तु की बाह्य जगत् में सत्ता है। इस प्रकार किसी भी तथ्य का अवधारणारहित ज्ञान असंभव प्रतीत होता है। इसलिए बुद्ध का आत्मा के अस्तित्व-सम्बन्धी प्रश्नों पर मुखर न होना महत्त्वपूर्ण है। उपनिषदों में ऐसे उद्धरण मिलते हैं जहां पर आत्मा के स्वरूप-सम्बन्धी प्रश्नों पर मुनि मौन रहते हैं। परन्तु, बुद्ध की प्रतिक्रिया के विपरीत, बार-बार पूछने पर वे मुखर होकर कहने लगते हैं कि आत्मा शान्त है, मन-वाणी से अगम्य है, शुद्ध चैतन्य है इत्यादि।[२५] इन दोनों प्रतिक्रियाओं में जो मुख्य अन्तर दिखायी देता है वह यह कि जहाँ बुद्ध आत्मा के अस्तित्व को न तो स्पष्टत: स्वीकार करते हैं और न ही अस्वीकार, बल्कि स्वीकार और अस्वीकार दोनों पक्षों में संदेह व्यक्त करते हैं, वहीं औपनिषद मुनि उसकी सत्ता पर संदेह ही नहीं व्यक्त करते हैं। आत्मा के अस्तित्व को असंदिग्ध मानना एक प्रकार की रूढ़िवादिता है। बौद्ध परम्परा ऐसी रूढ़िवादिता के विरुद्ध है।

'आत्मा का अस्तित्व है' यदि यह विचार हमारी अहंवृत्ति की तुष्टि करता है तो यह धारणा अवांछनीय है। बौद्ध विचारकों के अनुसार अनित्य और परिवर्तनशील तत्त्व को नित्य मानने की प्रवृत्ति ही दु:ख का कारण है। मनुष्य का व्यवहार अनुभव और तर्क से निर्धारित होता है तथा केवल अनुभव और तर्क के आधार पर आत्मा जैसी किसी नित्य

सत्ता की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। शंकराचार्य ने भी आत्मा या निरपेक्ष ब्रह्म के अस्तित्व के बारे में शब्द-प्रमाण को ही अन्तिम प्रमाण कहा है। उल्लेखनीय है कि बौद्ध परम्परा केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही ज्ञान का करण मानती है। शब्द को प्रमाण न मानने का मुख्य कारण शायद यह रहा है कि इसके कारण अनेक रूढ़ियों के प्रवेश की संभावना उत्पन्न हो जाती है जिसका कि बौद्ध दर्शन मुखर विरोधी रहा है। परन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि बुद्ध-वचनों की बौद्ध परम्परा में, विशेष रूप से महायान परम्परा में, अत्यन्त प्रतिष्ठा है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दो प्रमाणों की स्वीकृति का जितना सैद्धान्तिक महत्त्व है उतना व्यावहारिक नहीं। बुद्ध के जीवन के सम्बन्ध में अनेक मिथकों की कल्पना भी इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है। कहा जाता है कि धार्मिक परम्पराओं में मिथक की कल्पना करना अनुचित नहीं है जहां तक वे मनुष्य को स्वकेन्द्रित स्वार्थी व्यक्ति से जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ बनाने में सहायक हों। परन्तु उन मिथकों को सत्ता का कथन मानना शायद रूढ़िवादिता होगी। बुद्ध के तथाकथित मौन का यही उपयुक्त अर्थ प्रतीत होता है। यह अभिवृत्ति जहाँ एक ओर हमें सचेत रखती है वहीं दूसरी ओर महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक खोजों का मार्ग भी प्रशस्त करती है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

१. **The samyutta Nikaya** (Salayatanvagga >Abyakatasamyutta> Anandasutta), Part-4 General Editor Bhikkhu J. Kashyap, (Pali Publication Board, Bihar Government, 1956, p. 343.

२. बौद्ध परम्परा में 'धम्म' शब्द का व्यापक प्रयोग किया गया है और इसके अनेक अर्थ किये गये हैं। इसके द्वारा प्रमुख रूप से बुद्ध के उपदेश, सत्, व्यक्ति के आचरण, वस्तुएं और उनके गुण आदि का निर्देश किया गया है। परन्तु जहां समस्त धर्मों के अनात्म होने का उपदेश किया गया है वहां धर्म का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया गया है। इस अर्थ में बौद्ध परम्परा में दो धर्मों का उल्लेख मिलता है–संस्कृत और असंस्कृत धर्म। संस्कृत धर्म उत्पन्नधर्मा वस्तुएं हैं। इनका अस्तित्व कारण-कार्य व्यवस्था पर आधारित है। इसके विपरीत कारण-कार्य व्यवस्था से मुक्त धर्म असंस्कृत धर्म कहलाते हैं। निर्वाण सहित तीन धर्मों को असंस्कृत धर्म माना जाता है। कुछ विद्वान यह कहते हैं कि 'समस्त धर्म अनात्म हैं' इस कथन का निर्देश केवल संस्कृत धर्मों के लिए ही है। परन्तु इससे यह प्रतीत होता है कि असंस्कृत धर्मों का सम्बन्ध आत्मा से है जो कि उचित नहीं है। इसलिए यहां पर दोनों धर्मों का निर्देश है ऐसा मानना चाहिए। बौद्ध पालि साहित्य में 'धम्म' के अनेक प्रयोगों का संक्षेप में उल्लेख Rupert Gethin के एक पत्र 'He who sees Dhamma sees Dhammas : **Journal of Indian Philosophy**, 32 (2004) : 513-542 में देखा जा सकता है।

३. सस्सतो लोको। असस्सतो लोको। अन्तवा लोको। अनन्तवा लोको। तं जीवं तं सरीरं। अञ्ञं सरीरं। होति तथागतो परं मरणा। न होति तथागतो परं मरणा। होति च न च होति तथागतो परं मरणा। नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा। देखें – **The Diggha Nikaya** (Potthapadasutta) General Editor Bhikkhu J. Kashyap, (Pali Publication Board, Bihar Government, 1958), p. 156-157.

४. **The sacred Books of the East.** Vol. 35 &The Questions of King Milinda (Part I) i.e. the Milinda Panha, translated from Pali by T. W. Rhys Davids) ed. Max MuÊer (Delhi : Motilal Banarsidas, reprint 1982) p. 205

५. **Anguttara Nikaya,** 3=65 (Kalamasutta) Retrieved from the site <http://www.accesstoinsight.org/tipitaka/an/an03/an03.065.than.html> on Dec. 24, 2006.

६. Colins, S., **Selfless Persons : Imagery and Thought in Thervada Buddhism.** (London : Cambridge University Press, 1962) pp. 156-165

७. **Milinda Panha, Op. cit.** p. 86-89.

८. **The Sanyutta Nikaya** (Vol. III) ed. Bhikkhu J. Kashyap, Nalanda-Devanagri Series (Pali Publication Board, Bihar Government, 1959).

९. Radhakrishanan, S., **FeÊowship of Spirit,** (Cambridge & Massachusetts), Harvard University Press, 1961, p. 15

१०. Radhakrishanan, S., **Indian Philosophy : Some Problems**, Mind, Vol. 35 (April 1926) p. 170 देखें टिप्पणी संख्या ८

११. Ibid, p. 174

१२. Ibid, p. 159

१३. Ibid, p. 161-162

१४. **Milinda Panha, op. cit.** p. 154

१५. **Samyatta Nikaya,** 56.31 (Simsipasutta) Retrieved from the site <http://www.accesstoinsight.org/tipitaka/an/an03/an03.065.than.html> on Dec. 24, 2006.

१६. Bahm, Archie J., 'Is There A Soul or No Soul? The Buddha Refused to Answer, Why?' **East-West Studies on The Problem of The Self.** ed. P. T. Raju and alburey CasteÊ (The Hague : Martinus Nijhoff, 1968) pp. 133-141.

१७. Dasgupta, S. N., **A History of Indian Philosophy** (Cambridge: The University Press, 1922) p. 604

१८. Radhakrishanan, S, **Indian Philosophy,** Vol 2 (New York: The MacmiÊan Company, 1923/1962) p. 604

१९. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् (५.३०) उमास्वाति रचित **तत्त्वार्थ-सूत्र** (<http//www.jainworld.com/phil/tatsut08.htm> पर उपलब्ध है। Retireved on Dec., 21, 2006

२०. इस तर्क से सम्बन्धित चर्चा के लिए चिएन-सिंग-हो का पत्र देखा जा सकता है (Chien-hsing Ho. 'Saying the Unsayable' **Philosophy East and West,** Vol.56 (3) (July 2006): 409-427) इसमें तर्क दिया गया है कि सत् को अनिर्वचनीय कहने का यह अर्थ नहीं है कि उसमें अनिर्वचनीयता जैसा कोई वास्तविक गुण है जिसका आख्यान किया जा रहा है। बल्कि इस निर्वचन के द्वारा सत् के वास्तविक स्वरूप का निर्देश किया जाता है कि वह बौद्धिक कोटियों से परे है। भारतीय परम्परा की विशेषता यह है कि वह अनिर्वचनीय (सत्) को अज्ञेय नहीं मानती, अनिर्वचनीय अज्ञेय केवल इस अर्थ में है कि उस पर भाषायी कोटियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। परन्तु भाषा के माध्यम से उसका संकेत अवश्य किया जा सकता है। इस प्रकार आत्मा को निर्गुण और अनिर्वचनीय एक साथ कहना अतार्किक नहीं प्रतीत होता है।

२१. अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयो:।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव: प्रसीदति।। १.३.१३।। **कठोपनिषद्** Vol. I trans, Swami Gambhirananda (Calcutta: Advita Ashram, 1957)

२२. न नरेणावरेण प्रोक्त एष

सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमान:।

अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्ति

अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्।। १.२.८ **कठोपनिषद् Op. cit.**

२३. **Milinda Panha, Op. cit.** p. 50

२४. **धम्मपद,** हिन्दी अनुवादक भद्रशील रावत (नई दिल्ली: सम्यक् प्रकाशन, २००२), पृ. ४

२५. Radhakrishnan (1926), **Op. cit.**, p. 165

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान विभाग,
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर, उ.प्र.
भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद

पुस्तक-समीक्षा

भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद, *संपादक अंबिकादत्त शर्मा, प्रकाशक विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, २००६ मूल्य - ३९५*

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा सम्पादिक ऐन्द्रिक प्राप्यकारित्व विषयक शोध-निबन्धों का संग्रह, जिसमें शर्माजी के अपने तीन निबन्ध तथा प्रस्तावना सन्निविष्ट हैं—अर्वाचीन हिन्दी दार्शनिक साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का 'इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व के सम्बन्ध में क्या अभिमत है' इस समस्या का सांगोपांग विवेचन इन सम्प्रदायों के अभिज्ञ विद्वानों ने अपने-अपने निबन्धों में सुचारु रूप से प्रस्तुत किया है। इस संग्रह की मर्मग्राही भूमिका दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपूर्व दर्शन-विभाग प्रमुख प्रो. सिद्धेश्वर भट्ट ने लिखी है। इस भूमिका या 'पुरोवाक्' में भट्ट जी भारतीय दर्शनों में चर्चित उक्त समस्या से सम्बद्ध सिद्धान्तों को बौद्धसम्मत 'प्रतिभासवाद', सांख्यवेदान्त पुरस्कृत 'वृत्तिवाद' तथा न्यायमीमांसा स्वीकृत 'सन्निकर्षवाद' एवं 'सम्प्रयोगवाद' इन चार वर्गों में बाँटते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि न्याय तथा मीमांसा निराकार ज्ञानवादी विचार- सम्प्रदाय हैं। इन दर्शनों की इस मान्यता के पीछे कुछ महत्त्वपूर्ण तर्क हैं जिनकी यहाँ चर्चा अस्थाने होगी। सांख्य, वेदान्त तथा बौद्ध साकार-ज्ञानवादी विचार-सम्प्रदाय हैं जिनके भी इस मान्यता के समर्थक विचारणीय तर्क हैं, जिनकी यहाँ चर्चा नहीं की जाएगी। न्याय और मीमांसा मानते हैं कि इन्द्रियविषय-सन्निकर्षजनित इन्द्रिय पुर:स्थित विषय की प्रत्यक्षानुभूति का आत्मा निष्क्रिय वाहक होता है। इसके विपरीत सांख्य वेदान्तादि दर्शनों का मत यह है कि अन्त:करण के साथ एकाकार हुआ आत्मा या स्वयं ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्रवृत्त हों सम्मुख स्थित विषय से एकाकार होते हुए उसका आकलन करता है। इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व की समस्या केवल चक्षु और श्रोत्र के सम्बन्ध में उठायी गयी है, क्योंकि इनके विषयभूत रूप और शब्द इनसे दूर स्थित होते हुए भी इनके द्वारा आकलित होते हैं। शेष इन्द्रियों को प्राय: सभी दर्शन प्राप्यकारी मानते हैं। चक्षु और श्रोत्र के स्वरूप के सम्बन्ध में बौद्ध, जैन तथा व्याकरण दर्शनों के विचारों से असहमत होने से यह समस्या खड़ी होती है।

आधुनिक भौतिक विज्ञान के अनुसार तो इन्द्रियों को विषयप्राप्यकारी मानने के बदले विषयों को ही इन्द्रियप्राप्यकारी मानना सही होगा। इन्द्रियों की विषयग्रहण-प्रक्रिया को वे इस प्रकार विशद करते हैं—चक्षु का उदाहरण लिया जाए तो उसके द्वारा किसी सम्मुखस्थित वस्तु के संवेदन का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण इस प्रकार होगा– वस्तु पर पड़ने वाली प्रकाश की शलाकाओं में से कुछ को वस्तु का पृष्ठभाग अपने में समा लेता है। शेष प्रकाशशलाकाएँ वस्तु से परावृत्त होकर चक्षु के अन्त:फलक (रेटीना) पर आघात

करती हैं। इस आघात की वैद्युतिक प्रतिक्रिया सीधे मस्तिष्क के उपरिभाग स्थित कुछ मज्जातन्तुओं को—जिन्हें 'ऐसोसिएशन एरियाज़' कहा जाता है—उद्दीप्त करती है, जिसके फलस्वरूप वस्तु-स्वरूपग्राही प्रत्यक्ष संवेदना उत्पन्न होती है। इस स्पष्टीकरण से यह ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ विषयों से प्रभावित होती हैं, वे उन्हें प्रभावित नहीं करतीं। लेकिन इस वैज्ञानिक स्पष्टीकरण की यथार्थता स्वीकार कर भी इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस बात के लिए आनुभविक तर्क दिये जा सकते हैं। यह बात प्रयोगों से प्रमाणित है कि किसी भी चक्षु-सम्मुख-स्थित वस्तु की चक्षु-पटल पर अंकित होने वाली प्रतिमा उस वस्तु के विपरीत आकार की होती है। किन्तु प्रत्यक्ष की शारीरिक प्रक्रिया पूर्ण होने पर दृश्य वस्तु सही आकार की ही द्रष्टा को प्रत्यक्षगोचर होती है। इसी प्रकार कोई भी त्रि-आयामात्मक वस्तु चक्षु के सम्मुख उपस्थित होने पर उसका एक ही पृष्ठभाग चक्षु के सामने प्रकट होता है। अन्य पाँच पृष्ठभाग चक्षु से तिरोहित ही रहते हैं। ऐसा होते हुए भी चक्षु या द्रष्टा वस्तु को त्रि-आयामात्मक रूप में ही देखता है। ऐसी ही बात शेष इन्द्रियों के सम्बन्ध में अनुभवगोचर होती है। इन बातों की उपपत्ति अर्जित प्रत्यक्ष या ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष की धारणा की मदद से दी जा सकती है। यह उपपत्ति सही हो या ग़लत, इन्द्रियों का कारित्व या सक्रियत्व जो उक्त उदाहरणों से स्पष्टतया सूचित होता है उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विषयवस्तु जैसे इन्द्रियों को प्रभावित करती है वैसे ही इन्द्रियाँ भी विषयवस्तु को प्रभावित करती हैं। ऐन्द्रिय ज्ञान के अगाध विस्तार का उपपादन इन्द्रियों को प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में विषयों के समान सक्रिय मान कर ही किया जा सकता है। अनन्त आकाश में विद्यमान अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के बारे में विस्तृत जानकारी, जो ज्योति भौतिकी ने प्राप्त की है वह चक्षु की अपरिमेय सक्रियता पर ही आधृत है, ऐसा निश्चय से कहा जा सकता है।

इस पर यह प्रतिवाद अप्राप्यकारित्व के पुरस्कर्त्ताओं की ओर से किया जा सकता है कि इन्द्रियाँ भले ही क्रियाशील हों, उन्हें प्राप्यकारी मानना आवश्यक नहीं है। अपनी स्वाभाविक योग्यतावश ही वे विषयों से असम्बद्ध रह कर भी उन्हें प्रभावित कर सकती हैं। यह बात न्यायबिन्दुव्याख्याकार धर्मोत्तर ने निम्न वाक्य में कही है। वाक्य इस प्रकार है 'य: एवं अर्थ: सन्निधान-असन्निधानाभ्यां स्फुटं-अस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसत् स: एव।' अर्थात् विषयवस्तु चक्षु के सन्निकट या असन्निकट परमार्थ सत् रहने पर अपना स्पष्ट या अस्पष्ट प्रतिभास द्रष्टा के मन में जो निर्माण करती है वही होता है। इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि विषयवस्तु का सन्निधान द्रष्टा के चक्षु से ही अपेक्षित होता है, उसके शरीर के अन्य अंगों से नहीं। यह सन्निधान संयोगरूप नहीं होता। दृश्य वस्तु चक्षु से कुछ दूरी पर अवस्थित होने पर ही दृग्गोचर होती है। किन्तु शब्द का श्रोत्र के कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश से पूर्णतया सन्निकर्ष होता है। अन्य इन्द्रियों के विषय भी उनसे कम-अधिक मात्रा में सन्निकृष्ट होते हैं। चाक्षुष विषय की भिन्नता का कारण चाक्षुष

प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित आलोक है जो इसके लिए माध्यम का कार्य करता है। चक्षु यदि शारीरिक पार्थिव अंग हो तो वह बाह्य आलोक के साथ एकाकार होकर दृश्य वस्तु का आकलन नहीं कर सकती, क्योंकि आलोक तैजस पदार्थ है। चक्षु और वस्तु के बीच माध्यम का कार्य करने के लिए आलोक का चक्षु के साथ एकाकार या एकरूप होना आवश्यक है। आलोक दृश्य वस्तु को ही प्रकाशित करता है, चक्षु को नहीं। दृश्य वस्तु के साथ आलोक का सम्बन्ध प्रकाश्य-प्रकाशक भावरूप है जबकि चक्षु के साथ उसका सम्बन्ध सहकारी दर्शकरूप है। इसी कारण नैयायिक चक्षु को तैजस मान कर उससे निर्गत तेज को बाह्य सौर तेज के साथ एकाकार होकर विषयपर्यन्त प्रसृत मानते हैं।

उक्त तर्कों तथा आनुभविक समर्थन के बावजूद यदि चक्षु और श्रोत्र को अप्राप्यकारी ही ठहराया जाए और इन्हें विषयासन्निकृष्ट रूप से ही विषयग्राही माना जाए तो इनके असन्निकर्ष को विशेष रूप से परिभाषित करना होगा जो तर्क-विरुद्ध होगा। सन्निकर्ष या दो वस्तुओं का संयोग आंशिक या अव्याप्यवृत्ति ही हो सकता है, जैसे पेड़ पर बैठे बंदर का पेड़ के साथ होता है। पेड़ की डाल से बंदर संयुक्त होते हुए भी उसके तने से वह संयुक्त नहीं होता। असन्निकर्ष को इस प्रकार अव्याप्यवृत्ति नहीं माना जा सकता। चित्त में विषय का प्रतिभास होने पर ही उसका स्फुट संवेदन होता है, ऐसा कहने वाले बौद्ध यह भूल जाते हैं कि चित्त तक अपना प्रतिभास पहुँचाने के लिए विषयवस्तु द्वारा पहले चक्षु या श्रोत्र तक अपना प्रतिभास पहुँचाना आवश्यक है, क्योंकि इन इन्द्रियों के माध्यम से ही चित्त तक यह प्रतिभास पहुँच सकता है। अंधे और बहरे को चित्त के होते हुए भी न रूप का संवेदन होता है न शब्द का। मन या अन्त:करण की बाह्य प्रत्यक्ष के लिए आवश्यकता का स्वीकार भिन्न-भिन्न रूप से सभी भारतीय दार्शनिकों ने किया है। नैयायिक भी बाह्येन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय-मन:संयोग को आवश्यक मानते ही हैं। अवधान की स्थिति में इन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष घटित होने पर भी विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता, यह आनुभविक बात नैयायिकों को स्वीकार्य ही है। लेकिन अन्य दार्शनिकों का बाह्य प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से कहीं अधिक अन्त:करण या मन के विषय-संयोग को अथवा विषयाकार ग्राहिता को महत्त्व देना नैयायिकों को पूर्णतया अमान्य है। अन्य दार्शनिक इन्द्रियों को अन्त:करण के विषयाभिमुख प्रसार का एक माध्यम मानते हैं। यह बात कुछ अनुभव-विपरीत सी लगती है। इन्द्रियाँ यदि अन्त:करण के प्रसार का माध्यम मात्र बनी रहें और बाह्य विषयों से असन्निकृष्ट ही रहें तो क्या अन्त:करण विषयाकारग्राही हो सकता है? इन्द्रियों को विषयसन्निकृष्ट न मानकर केवल विषय-ग्रहण-योग्य मानने से या विषय को केवल इन्द्रिय-विषयता-योग्य मानने से काम नहीं चल सकता, इस बात का स्पष्टीकरण पीछे किया जा चुका है। यदि इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष कभी न हो पाए तो उनके पारस्परिक ग्रहण-ग्राह्य-योग्यत्व की बात ही

नहीं की जा सकती (यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द चक्षु और श्रोत्र के लिए ही प्रयुक्त है, यह याद रखना आवश्यक है)।

इन्द्रिय-सन्निकर्ष के साथ अन्त:करण या मन का भी साक्षात् या परम्परया विषय के साथ सन्निकर्ष अथवा किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध मानना आवश्यक है, क्योंकि ऊपर बताये अनुसार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष मानसिक अवधान के बिना घटित नहीं होता और इन्द्रिय-पुर:स्थित विषय की यथावत् संरचना, जो सविकल्पक प्रत्यक्ष का वास्तविक स्वरूप है, अन्त:करण की प्रत्यक्ष प्रक्रिया में क्रियान्वयन से ही सम्भव होती है। नैयायिक इस बात के महत्त्व को ठीक तरह समझ नहीं पाते, इसीलिए वे विषय-मन:संयोग की प्रत्यक्षकारणता को स्वीकार नहीं करते, भले ही वे इन्द्रिय-मन-संयोग को प्रत्यक्ष का (परम्परया) कारण मान लें। अद्वैत, बौद्ध आदि दर्शन नैयायिकों की ग़लती नहीं दुहराते, लेकिन इन्द्रिय-विषयसन्निकर्ष की प्रत्यक्ष कारणता को महत्त्व न देकर वे प्रत्यक्ष की ऐन्द्रियता का, जो अनुभवसिद्ध है, एक तरह अपलाप कर डालते हैं।

अब उपर्युक्त विचारों की पार्श्वभूमि में हम 'भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद' इस संग्रह में संकलित लेखों का विहंगावलोकन करेंगे। पहला लेख 'प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्ववाद के शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य' इस शीर्षक से स्वयं अम्बिकादत्त जी का है। लेख के प्रारम्भ में उपनिषद्, महाभारत और वैदिक वाङ्मय इनमें उपलब्ध ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष-सम्बद्ध काफी जानकारी प्रस्तुत की गयी है। यह उपयोगी अवश्य है किन्तु विचारणीय समस्या मुख्यतया ज्ञान-मीमांसीय होने के कारण उसके निरसन के लिए इस जानकारी का क्या उपयोग है, यह कहना कठिन है। दूरान्वय से इस जानकारी का उक्त समस्या के साथ लेखक महोदय ने सम्बन्ध जोड़ा है। इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी क्यों होती हैं इस बात को समझाने के लिए अम्बिकादत्त जी कहते हैं कि, "...कुछेक माध्यम अपनी विशेषता के कारण इन्द्रियों के लिए अप्राप्यकारी परिप्रेक्ष्य का भी निर्माण करते हैं। उदाहरण के लिए कुछ माध्यम सप्रतिघ और अनुग्राहक प्रकृति के होते हैं।...ऐसे माध्यम इन्द्रियग्राह्य विषयों के सूक्ष्म परमाणुओं का संवहन करते हैं।...इसके विपरीत कुछ माध्यमों की प्रकृति अप्रतिघ और उपकारक किस्म की होती है।...ऐसे माध्यम शब्द-रूपादि विषयों के अप्राप्यकारी ग्रहण में बाधक नहीं बनते हैं।...सप्रतिघ माध्यम अनुग्राहक होने के कारण अपने विषय की महाभूत-परम्परा का प्रसार करते हैं, जबकि अप्रतिघ माध्यम उपकारक मात्र होने के कारण अपने विषय की महाभूत-परम्परा का किंचित् भी प्रसार नहीं करते।"

यह सारा परिच्छेद विपर्यासकारक सा प्रतीत होता है। अम्बिकादत्त जी का कथ्य सीधे शब्दों में यह है कि घ्राण, रसना तथा त्वचा के विषयों के अणु उनसे उद्गत होकर इन इन्द्रियों तक पहुँचते हैं और उनमें अपनी-अपनी संवेदनाएँ उत्पन्न करते हैं। चक्षु और

श्रोत्र के विषयों के अणु इन इन्द्रियों तक नहीं पहुँचते क्योंकि इनका संवहन प्रकाश, आकाश जैसे माध्यम करते हैं जो अम्बिकादत्त जी के शब्दों में 'अप्रतिघ' हैं।

प्रतिघ शब्द का अर्थ 'बाधक' या 'प्रतिबंधक' ऐसा है। क्या यह अर्थ गंध, स्वाद और स्पर्श के वाहक परमाणुओं के लिए प्रयुक्त हो सकता है? जो उपकारक है वह सप्रतिघ कैसे होगा? प्रकाश और आकाश यदि अप्रतिघ और उपकारक माध्यम हैं तो चक्षु और श्रोत्र की प्राप्यकारिता के वे बाधक कैसे होंगे? दृश्य वस्तु से परावृत्त प्रकाश चक्षु तक पहुँचने में कौन सी बाधा है? बाह्य शब्दलहरियों का वाहक आकाश तो कान के भीतर भी विद्यमान है। यह रूप तथा शब्द की स्थिति चक्षु और श्रोत्र की प्राप्यकारिता के लिए सहायक ही होगी, बाधक कदापि नहीं।

"दृश्य-दर्शन सम्बन्ध में...घटित होने वाला ज्ञान किस रूप में घटित होता है, यह बात 'प्रत्यासत्ति' शब्द से सूचित या विदित होती है।" ऐसा प्रत्यासत्ति के सम्बन्ध में अम्बिकादत्त जी कहते हैं। सामान्यतया प्रत्यासत्ति शब्द का प्रयोग सभी दर्शनों में सम्बन्ध के अर्थ में किया जाता है, चाहे वह दृश्य-दर्शन सम्बन्ध हो या कोई अन्यविध सम्बन्ध। इस सम्बन्ध की विधाएँ, जैसे संयोग, बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव, उद्दीप्य-उद्दीपक भाव, ग्राह्य-ग्राहक भाव, प्रकाश्य-प्रकाशक भाव, इतरेतराध्यास, तादात्म्य, आकर्ष्य-आकर्षण-भाव आदि अम्बिकादत्त जी ने गिनायी हैं। ऐसी न जाने सम्बन्ध की कितनी विधाएँ गिनायी जा सकती हैं (जैसे कार्य-कारणभाव, प्रयोज्य-प्रयोजकभाव, आधाराधेयभाव आदि)। प्रस्तुत प्रसंग में इन्द्रिय-विषय सम्बन्ध को केवल ग्राह्य-ग्राहक भाव के रूप में ही जाना जा सकता है। इस ग्राह्य-ग्राहक भाव के आधार संयोग, समवाय, संयुक्त समवाय आदि सम्बन्ध हैं, जो न्यायवैशेषिक दर्शन ने पुरस्कृत किये हैं। इन सम्बन्धों के अतिरिक्त उपरिनिर्दिष्ट सम्बन्धों के उल्लेख का प्रस्तुत प्रसंग में कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता।

आगे चलकर दत्त जी कहते हैं कि, "...इन्द्रियों द्वारा विषयग्रहण में नैसर्गिक योग्यता रूप स्वभाव को महत्त्व देना स्वयं नैयायिकों एवं मीमांसकों के लिए भी किसी न किसी रूप में आवश्यक है लेकिन वे विविध प्रकार के परस्पर जुड़े हुए सन्निकर्षों को मानकर इसे गड्ड-मड्ड कर देते हैं। नैसर्गिक योग्यता की अवधारणा में जो एक कठिनाई है वह यह है कि योग्यता यावद्द्रव्यभाविनी होती है, अत: सर्वदा प्रत्यक्ष को स्वीकार करना होगा।" तो क्या किसी विषय के उपस्थित न रहते भी उसका प्रत्यक्ष इन्द्रिय की योग्यता के कारण घटित होना अनिवार्य होगा? सन्निकर्ष रूप अन्य कारण उपस्थित होने पर ही इन्द्रियों की विषय-ग्रहण योग्यता प्रकट होती है, ऐसा नैयायिक इस पर सहज प्रतिवाद कर सकते हैं। बौद्धों के समान नैयायिक स्वरूपयोग्यता को फलोपाधायकत्व रूप स्वीकार नहीं करते, जिससे इन्द्रियों के रहते सदैव प्रत्यक्ष घटित होने की आपत्ति उत्पन्न हो।

अपने दूसरे लेख 'बौद्ध दर्शन में इन्द्रियों का योग्यतामूलक संप्राप्त-असंप्राप्तग्राहित्व' में अम्बिकादत्त जी प्रस्तुत विषयक बौद्ध मत का विस्तृत विवेचन करते हैं। लेकिन लेख के अन्त में जो निष्कर्ष उन्होंने प्रस्तुत किया है वह कुछ अटपटा सा लगता है। वे कहते हैं, "...योग्यत्वमूलक व्यवस्था मान लेने पर सन्निकर्ष अनावश्यक अतिरेक रूप में व्यर्थ हो जाएगा। पुनः, सन्निकर्ष द्वारा उत्पत्ति से अनुभव मानने पर विकल्पों की शृंखला से व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ेगी...क्योंकि अव्यवहित क्षण का अनुभव ही स्पष्ट हो सकता है।...इन्द्रियों की स्वरूप-योग्यता के आधार पर ही सभी प्रकार के अनुभवों की व्याख्या सम्भव है।" ऊपर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि केवल स्वरूप-योग्यता के आधार पर ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष को उपपादित नहीं किया जा सकता। लेकिन इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष का प्रत्यक्षानुभव के अव्यवहितपूर्व घटित होना उसकी प्रत्यक्ष कारणता के लिए आवश्यक मानना ज़रूरी नहीं है। इसी बात को धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रथम परिच्छेद के प्रारम्भ में इस प्रकार कहा है : "ज्ञानं प्रमाणं, न ज्ञानं इन्द्रियार्थसन्निकर्षादि।" इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए व्याख्याकार सन्निकर्ष की प्रत्यक्षकारणता को सन्निकर्ष के प्रत्यक्ष का अव्यवहित पूर्ववर्ती न होने से निरस्त करते हैं।

परिशिष्ट (1) में अम्बिकादत्त जी न्याय, मीमांसा, व्याकरण, सांख्य, वेदान्तादि दर्शनों के उक्त विषयक विचारों का मूल ग्रन्थों के आधार पर विशद विवेचन प्रस्तुत करते हैं जो पठनीय एवं मननीय है। न्यायसम्मत सन्निकर्ष की संख्या को समवेत-समवेत, समवेत-समवेत-समवेत इस क्रम से बढ़ाते हुए उसका विस्तार जो दत्तजी ने किया है वह केवल काल्पनिक तथा अनुभवानाधारित-सा लगता है। इस प्रकार सन्निकर्ष का यदि विस्तार किया जाए तो उसकी इयत्ता ही समाप्त हो जाएगी।

मीमांसा दर्शन, अद्वैतवेदान्त दर्शन, व्याकरण दर्शन, शुद्धाद्वैत दर्शन, जैन दर्शन, सांख्य दर्शन का समवेत रूप में इन्द्रिय-प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्व का विमर्श इन विभिन्न प्रकरणों में क्रमशः श्री सोमनाथ नेने, श्री आनन्द मिश्र, श्री मुरली मनोहर पाठक, श्री श्याम मनोहर गोस्वामी, श्री सागरमल जैन, श्री रजनीश कुमार शुक्ल तथा श्री शंकर दयाल द्विवेदी इन विद्वानों ने उक्त विभिन्न दर्शनों के प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध विचारों पर मूल ग्रन्थों में चर्चित साधक-बाधक युक्तियों के आधार पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

न्यायदर्शन के उक्त विषयक विचारों की विस्तृत चर्चा करते हुए श्री सच्चिदानन्द मिश्र अपने लेख में एक विवाद्य मुद्दा उठाते हैं। वह न्यायसम्मत पाँच सन्निकर्षों से विशेष्यता को जोड़कर नये सन्निकर्ष बनाने की आवश्यकता से सम्बद्ध है। ये सन्निकर्ष बनाने की आवश्यकता क्यों है, इस बात का मिश्र जी इस प्रकार स्पष्टीकरण देते हैं "...विशिष्टवैशिष्ट्य बुद्धि के लिए विशेषण का ज्ञान कारण होता है, परन्तु विशेष्य का ज्ञान कारण नहीं होता है। इस कारण अगर हम विशेष्यता को जोड़कर प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष न बनाएं तो...वायु में रहने वाले रूप के अभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो

सकेगा। इसका कारण यह है कि जब तक वायु में रूपाभाव नहीं बनेगा तब तक वायु का चक्षु के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं सम्भव होगा। जब तक वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगा तब तक वायु में रूपाभाव विशेषण नहीं होगा। इस तरह अन्योन्याश्रित होने के कारण न तो वायु में रूपाभाव विशेषण हो सकेगा न वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष ही हो सकेगा। इस कारण गंगेशोपाध्याय कहते हैं कि प्रथमत: 'वायौ रूपं नास्ति' इस तरह से वायु में रूपाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष संयुक्तविशेष्यतासन्निकर्ष से होता है क्योंकि 'वायौ रूपं नास्ति' इस ज्ञान में रूपाभाव विशेष्य है और विशिष्ट ज्ञान के लिए विशेष्य का ज्ञान कारण नहीं होता है। अगर विशेष्य अयोग्य हो तो चाक्षुष विशिष्ट ज्ञान सम्भव नहीं होता है। इस तरह से प्रथमत: अभाव का प्रत्यक्ष चक्षु: संयुक्तविशेष्यतासन्निकर्ष से होता है, तदनन्तर ही चक्षु: संयुक्तविशेषणतासन्निकर्ष से उसका प्रत्यक्ष सम्भव हो पाता है।"

उक्त परिच्छेद में परस्पर विरुद्ध बातें कही गयी सी लगती हैं। एक कथन, "विशिष्ट ज्ञान के लिए विशेष्य का ज्ञान कारण नहीं होता है," यह है और दूसरा "अगर विशेष्य अयोग्य (यानि अज्ञेय) हो तो चाक्षुष विशिष्ट ज्ञान सम्भव नहीं होता" यह है। इनका परस्पर विरोध स्पष्ट है। इन वाक्यों के पूर्व "विशिष्टवैशिष्ट्य बुद्धि के लिए विशेषण का ज्ञान कारण होता है, परन्तु विशेष्य का ज्ञान कारण नहीं होता है" यह वाक्य है। क्या इस वाक्य में कही बात सत्य हो सकती है? किसी भी विशिष्टवैशिष्ट्य बुद्धि में विशेष्य पूर्वगृहीत होता है। उसके बिना उसके विशेषण से विशिष्टता बुद्धि उत्पन्न होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अत: रूपाभाव के ज्ञान के बिना 'वायौ रूपं नास्ति' यह वायुप्रकारक रूपाभावविशेष्यक बुद्धि हो ही नहीं सकती। लेखक कहते हैं कि गंगेशोपाध्याय ने यह बात कही है। यदि वे इस कथन के संदर्भ का उल्लेख करते तो गंगेश का वास्तविक अभिप्राय क्या है यह समझा जा सकता था। **प्रत्यक्ष चिन्तामणि** के सन्निकर्षवाद प्रकरण में ऐसा कोई वाक्य उपलब्ध नहीं है।

परिशिष्ट (2) में श्री सच्चिदानन्द मिश्र न्यायसम्मत ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष द्वारा चाक्षुष प्रत्यक्ष में अनुमिति के अन्तर्भाव की अद्वैतवेदान्तोपस्थापित आपत्ति का प्रश्न उठाकर उसके सम्बन्ध में गंगेश, रघुनाथ, रुचिदत्त, गदाधर, मथुरानाथ, धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत मन्तव्यों की विस्तृत और नावीन्यपूर्ण तथा आद्योपान्त चर्चा करते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात विशेषतया मननीय है कि अनुमिति के पूर्व साध्य का स्मरण हेतु व्यापक के रूप में ही होता है पक्षवृत्ति वस्तु के रूप में नहीं जो अनुमिति का विषय है। पक्ष और साध्य ये अलग-अलग अनुमिति के विषय नहीं होते जिससे अनुमिति को नृसिंहाकारक ज्ञान के रूप में देखा जा सके। विशिष्ट ज्ञानरूप अनुमिति के दो अंश नहीं होते। साध्यविशिष्ट पक्ष यह अनुमिति का एकरूप विषय है जो अंशत: प्रत्यक्ष से और अंशत: अनुमिति से ज्ञात हो सकता है, लेकिन अनुमिति इनका समुच्चित ज्ञान नहीं है।

अस्तु एक प्रौढ़ दार्शनिक तथा अधिकतर मौलिक विचारों से परिपक्व कृति का अंशत: निर्माण तथा पूर्णत: सम्पादन कर हिन्दी दार्शनिक वाङ्मय को समृद्ध करने के लिए अम्बिकादत्त जी भूरि-भूरि प्रशंसा के पात्र हैं।

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व के विचार और तत्सम्बन्धी विवाद यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं, लेकिन अम्बिकादत्त जी ने सम्प्रदाय-क्रम से इस विचार की आधारिक संरचना और इसके प्रमाणशास्त्रीय महत्त्व को प्रथमतया इस ग्रन्थ में उद्घाटित करने का जो उपक्रम किया है वह अत्यन्त शास्त्रोपकारी है। अन्तत: उनकी स्थापनाओं के अपने तर्क हैं और मेरी उनसे किंचित् असहमति के भी अपने तर्क हैं और यह, वाद-विवाद ही भारतीय दर्शनों की वर्द्धमान जीवन्तता है।

नारायण शास्त्री द्राविड़
दि एन्क्लेव, गार्डंस, मानुकॉ,
ऑकलैंड (न्यूज़ीलैंड)

तुलनात्मक दर्शन, सं. डॉ. कालीचरण पांडेय, प्रकाशक – विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, २००४, पृ. सं. २९०, मूल्य ३५०/-

प्रस्तुत समीक्ष्य कृति अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की एक उपलब्धि है, जिसने सन् 1979 में 'स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यानमाला' की स्थापना का निर्णय लिया और जिसका शुभारम्भ श्री यशदेव शल्य के 'तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा' (अहमदाबाद अधिवेशन, 1980) शीर्षक व्याख्यान से हुआ। परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में तुलनात्मक दर्शन की मीमांसा का क्रम अनवरत चल रहा है। अब, डॉ. कालीचरण पाण्डेय ने इस व्याख्यानमाला के उपलब्ध 18 व्याख्यानों को, चार अन्य आंग्ल भाषा से अनुवादित आलेखों (आलेख संख्या 1.1, 1.2, 2.1 व 2.2) सहित, संकलित एवं सम्पादित कर शुभ कार्य किया है।

तुलनात्मक दर्शन क्या है? क्या यह एक भिन्न सांस्कृतिक परिवेश में स्थित दार्शनिक परम्परा को दार्शनिक परम्परा के रूप में जानना और पहचानना है? क्या यह समान या असमान संस्कृतियों में स्थित दर्शनों के मध्य, उनकी तार्किक संरचनाओं तथा मूलभूत प्रश्नों और स्थापनाओं के संदर्भ में विद्यमान भेदाभेद को तलाशना है? क्या यह एक स्वतन्त्र दार्शनिक विधा है जिसका प्रयोजन दर्शनों का मूल्यांकन और समन्वय करना है? हमारे समक्ष प्रस्तुत कृति इन्हीं और इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों को उठाती है और समाधान ढूँढने का प्रयास करती है।

पुस्तक का प्रारम्भ प्ररोचना, पुरोवाक् और एक विस्तृत सम्पादकीय प्रस्तावना 'तुलनात्मक दर्शन : एक समन्वयात्मक दृष्टि' से होता है। सर्वप्रथम, प्रो. समदोंग रिनपोछे तुलनात्मक दर्शन के आधार पर 'समन्वयात्मक दार्शनिक विमर्श' के प्रति आशा और संशय का मिश्रित भाव प्रकट करते हैं।

प्रो. श्रीप्रकाश दुबे मानते हैं कि तुलनात्मक दर्शन एक दार्शनिक विधा है जबकि तुलनात्मक धर्म सार्थक रूप से धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन मात्र है (पृ. vi)। वे तुलनात्मक दर्शन के आविर्भाव की पृच्छा के उत्तर में कहते हैं कि "जब हम विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में आते हैं तब...हम एक-दूसरे की समस्या से अवगत ही नहीं होते, उन्हें अपनी समस्या मानकर उसका समाधान भी ढूँढते हैं। यहीं पर तुलनात्मक दर्शन का आविर्भाव होता है।" (पृ. vii)

डॉ. पाण्डेय ने सम्पादित आलेखों की समीक्षा करते हुए तुलनात्मक दर्शन को एक ऐसी दार्शनिक विधा के रूप में स्वीकार किया है जो तटस्थ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा

विभिन्न दर्शनों के बीच समन्वय की स्थापना का प्रयास करती है (देखें, पृ. 4)। उनकी दृष्टि में संकलित आलेखों में "किसी-न-किसी रूप में विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के तुलनात्मक समन्वय की व्याख्या की गई है।" (पृ. 4) डॉ. पाण्डेय की यह राय विचारणीय है। यदि विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन से व्यापक समन्वयात्मक दर्शन की स्थापना होती है तो इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? परन्तु यह भी हम जानते हैं कि ऐसे प्रयास सार्थक और सफल नहीं होते।

पुस्तक के तीन खण्ड हैं—**(1) तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा और मीमांसा।** इस खण्ड के लेखक हैं—प्रो. दयाकृष्ण (तुलनात्मक दर्शन : यह क्या है और इसे क्या होना चाहिए), अरविन्द कुमार राय (दर्शन में तुलना बनाम अतुलना : तुलनात्मक दर्शन के लिए पहल), मोरेश्वर प्रसाद मराठे (तुलनात्मक दर्शन : संकल्पना, उद्दिष्ट, समस्याएँ और सम्भावना), अशोक कुमार वर्मा (तुलनात्मक दर्शन : उद्देश्य एवं उपलब्धियाँ), यशदेव शल्य (तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा), रेवतीरमण पाण्डेय (तुलनात्मक दर्शन : एक समीक्षात्मक विश्लेषण), अम्बिकादत्त शर्मा (तुलनात्मक दर्शन : विमर्शात्मक चेतना में पुनर्विमर्श), रजनीश कुमार शुक्ल (तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा एवं पद्धति-विमर्श का ऐतिहासिक संदर्भ), सजीवन प्रसाद (तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा) और धर्मेन्द्र गोयल (धार्मिक परम्पराएँ एवं मानववादी नैतिकता)।

(2) भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों की तुलना। इस खण्ड के लेखक हैं—रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे (रहस्यानुभूतिगत उदात्त भावना : पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध), विमलेन्दु नारायण सिंह (कर्त्तव्य में बाध्यता बोध), नित्यानन्द मिश्र (शंकर एवं हुस्सर्ल), भगवन्त सिंह (तुलनात्मक : आवश्यकता एवं उपादेयता), विजयकान्त दुबे (बीसवीं सदी के दर्शन में तुलनात्मक दर्शन की सार्थकता) और गोरखनाथ मिश्र (भारतीय और पाश्चात्य कट्टर यथार्थवाद)।

(3) भारतीय दार्शनिक प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन। इस खण्ड के लेखक हैं—रघुनाथ गिरि (उदयनाचार्य की ईश्वर-सिद्धि प्रक्रिया), हृदय नारायण मिश्र (माया की अवधारणा : शंकर और नागार्जुन), सागरमल जैन (भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अनेकान्त), गीता मेहता (विवेकानन्द और विनोबा दर्शन : एक तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य) और शोभा निगम (मानवेन्द्रनाथ राय का भौतिकवादी दर्शन और उसका आदर्श)।

यहाँ प्रो. धर्मेन्द्र गोयल और शोभा निगम के आलेखों के संकलन के औचित्य को स्पष्ट किया जाना चाहिए। तुलनात्मक दर्शन का घोषित लक्ष्य प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिक-सांस्कृतिक समन्वय द्वारा उदीयमान या अपेक्ष्य मानववादी वैश्विक संस्कृति को परिभाषित या विकसित करना है और आध्यात्मिक प्राच्य और बौद्धिक पाश्चात्य को परस्पर पूरक दर्शाना है। (देखें, पृ. 74-75 एवं 133-138) इस संदर्भ में प्रो. गोयल का आलेख तुलनात्मक दार्शनिक को धर्म और नैतिकता के मानदण्डों के पारस्परिक विरोध

और तनाव से रू-ब-रू कराता है तो शोभा निगम का आलेख भारतीय दर्शन को ऐकान्तिक रूप से आध्यात्मिक घोषित करने का प्रत्याख्यान करता है।

प्रो. दयाकृष्ण का चिन्तनात्मक शैली में निबद्ध आलेख 'तुलनात्मक दर्शन: यह क्या है और इसे क्या होना चाहिए' तुलनात्मक दर्शन की अवधारणात्मक समस्या का परत-दर-परत उद्घाटन करता हुआ एक तर्कसंगत समाधान तलाशने का प्रयत्न करता है। यह आलेख एक ओर जहाँ तुलनात्मक अध्ययनों के क्षेत्र में व्याप्त पाश्चात्य सांस्कृतिक उपनिवेशवाद को चुनौती देता है तो वहीं दूसरी ओर पश्चिमी पण्डितों की दर्शन पर एक एकाधिकार की दावेदारी को खण्डित करता है।

दयाजी का मानना है कि तुलनात्मक दर्शन के नाम पर (1) भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों में आत्यन्तिक भेद माना जाता है, अथवा (2) पाश्चात्य मानदण्डों से भारतीय दर्शनों को परखा जाता है, अथवा (3) दर्शनों में अनुरूपताओं का सर्वेक्षण किया जाता है। ये प्रवृत्तियाँ भ्रामक, अतार्किक और सतही हैं जिन्हें प्रतिस्थापित करने की आवश्यकता है। यहाँ तुलनात्मक दर्शन की एक विलक्षण संकल्पना की गई है—**अवधारणातमक परदेश में पर्यटन**। तुलनात्मक दर्शन की इस मौलिक अवधारणा की विशेष चर्चा यहाँ अपेक्षित है जो समीक्ष्य प्रकाशन की एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना भी है।

दर्शन की प्रकृति दयाजी का प्रिय आलोच्य विषय है। इस आलेख में प्रकट विभिन्न सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि दर्शन युक्ति और अनुभव पर आधारित एक ऐसी अवधारणात्मक संरचना है जिसमें परिष्कार के लिए सदैव अवकाश होता है और जिसके द्वारा ज्ञान-क्षेत्र के मानचित्र निर्माण का प्रयत्न किया जाता है।

दर्शन की इसी अवधारणा के आधार पर दयाजी पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा के समकक्ष कम-से–कम एक अन्य परम्परा, भारतीय दार्शनिक परम्परा की विद्यमानता की बात कहते हैं जिससे तुलनात्मक दर्शन की सम्भावना उत्पन्न होती है। (देखें, पृ. 49-52) लेकिन तुलनात्मक दर्शन के भारतीय पण्डितों का दोष यह है कि वे भारतीय दर्शन में पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के अनुरूप उदाहरण खोजकर पश्चिम से प्रशंसा प्राप्त करना चाहते हैं अथवा वे इस बात में गर्व अनुभव करते हैं कि भारतीय दर्शन केवल एक शुष्क बौद्धिक व्यायाम और निष्प्रयोजन तर्क-दंगल मात्र नहीं है बल्कि मनुष्य की पारमार्थिक बंध और मोक्ष विषयक समस्याओं का गहनतम आध्यात्मिक स्तर पर अवगाहन करता है। (पृ. 52) इस प्रकार ये पण्डित या तो पाश्चात्य सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के शिकार हो जाते हैं या भारतीय दर्शन की दार्शनिकता को खो देते हैं। अत: भारतीय दर्शन के तुलनात्मक अध्येता को यह जानना चाहिए कि, "यदि दर्शन मानवीय विचारणा (इंटलेक्ट) का प्रतिफल है तो सांस्कृतिक विभिन्नताओं के बावजूद इसमें एक सीमा तक अनुरूपता होना आवश्यक है, और इसी प्रकार, इसके एक मानवीय अन्वेषण होने से यह भी अनिवार्य हो जाता है कि इसमें मनुष्य का परामर्श और पुरुषार्थ-बोध उसके सांस्कृतिक वैशिष्ट्य से उपरंजित होकर ही परिलक्षित हो।" (पृ. 52)

तुलनात्मक दर्शन के समक्ष पहली तार्किक समस्या यह है कि एक अवधारणात्मक संरचना अपने से भिन्न किसी अन्य अवधारणात्मक संरचना की सम्भावना को कैसे स्वीकार कर सकती है? (देखें, पृ. 49) लेकिन वैकल्पिक अवधारणात्मक संरचनाओं का अस्तित्व तो है ही। दूसरी प्रमुख समस्या यह है कि यदि विभिन्न अवधारणात्मक संरचनाओं को स्वीकार कर भी लिया जाए तो उनमें सार्थक तुलना किस प्रकार सम्भव है? दयाजी के विवरण-चित्रण द्वारा न केवल हम इस समस्या का स्पष्ट बोध पाते हैं बल्कि वे हमें इसका समाधान भी दर्शा देते हैं। उन्हीं के शब्दों में "कून्ह की प्रस्थापना है कि एक ही संस्कृति में भी, जिसकी एक ही भाषा और इतिहास है, दो भिन्न अवधारणात्मक संरचनाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना असम्भव है। किन्तु जब संस्कृतियाँ, भाषाएँ और इतिहास भी आधारभूत रूप से भिन्न हों तब तो उनके बीच अनुरूपता, प्रतिरूपता अथवा मूल्यांकन सम्भव ही कैसे हो सकता है? किन्तु यह निर्णय भी कि ये असम्मेय हैं, कि इनमें साम्य-स्थापना असम्भव है, इनमें तुलना और इनके पृथक्-पृथक् अवगमन को पूर्व-कल्पित करता है। इस प्रकार, जो चेतना यह करती है उसमें बौद्धिक अनुभूति की वह योग्यता रहती है जो अवधारणात्मक कल्पना के द्वारा अवगम्यता...के एक भिन्न जगत् में प्रवेश सम्भव करती है, और उसमें पूर्ण अपनत्व चाहे नहीं भी अनुभव कर पाती हो किन्तु कम-से-कम परायापन भी अनुभव नहीं करती।" (पृ. 55)

दयाजी की यह अन्तर्दृष्टि कि चेतना अपनी अवधारणात्मक संरचना से निकलकर भिन्न अवधारणात्मक संरचना का अवलोकन कर पाती है, अर्थात् उसमें प्रवेश करके संसार का अनुभव (पर्यटन) कर पाती है—तुलनात्मक दर्शन का तर्कसंगत हल है। उनके अनुसार विभिन्न अवधारणात्मक संरचनाओं में चयन के झंझट में न पड़कर प्रत्येक अवधारणात्मक संरचना को ऐसे उपकरण के रूप में देखा जाए जो अनुभव को संयोजित और व्यवस्थित करके उसे अर्थपूर्ण बनाता है। "इस प्रकार, प्रत्येक उपलब्ध अवधारणात्मक संरचना दूसरी संरचनाओं की सीमाओं की द्योतक और अन्य संरचनाओं द्वारा नहीं देखे गए (अनुभव) के एक नए आयाम की उद्घाटक भी हो सकती है।'' (पृ. 56) यहाँ यह आपत्ति सम्भव है कि इस प्रकार से तो ज्ञानान्वेषण-व्यापार कलात्मक व्यापार के अत्यन्त निकट हो जाता है। दयाजी इससे सहमति रखते हैं। लेकिन, उनके अनुसार यह भी सत्य है कि अवधारणाओं के इस खेल में अन्ततः प्रमाण और परीक्षा का प्रश्न तो उठता ही है। यहाँ सत्य का दावा करना अनिवार्य होता है क्योंकि यह वस्तुतः एक सत्यान्वेषण की प्रक्रिया है। किन्तु यह प्रक्रिया अन्तहीन होती है, अतः सत्य का दावा भी सदैव अपूर्ण होता है। (देखें पृ. 56)

प्रो. अरविन्द कुमार राय का आलेख दर्शन में तुलनात्मक और अतुलनात्मक पद्धतियों की सापेक्षता और पूरकता के आधार पर तुलनात्मक दर्शन के तार्किक आधारों का अन्वेषण करता है।

प्रो. राय के अनुसार तुलनात्मक प्रश्न सादृश्य, सममिति और मूल्यांकन से सम्बन्धित होते हैं। उनका यह सुझाव महत्त्वपूर्ण है कि तुलनात्मक दर्शन पर उठने वाले उभयतोपाश, कि "यदि दर्शनों में सादृश्य स्पष्ट है तो तुलना अनावश्यक है और यदि असादृश्य पारदर्शी है तो तुलना असम्भव है," से निकलने के लिए समानता और असमानता की समान प्रारम्भिक सम्भावनाओं को स्वीकार कर लेना चाहिए। तब यदि तुलनात्मक प्रश्न ज्ञानमीमांसीय शंका के रूप में उठते हैं तो तुलनात्मक दर्शन न्यायसंगत है। (देखें, पृ. 62)

अपने तर्क का विस्तार करते हुए प्रो. राय मानते हैं कि सादृश्य के अर्थ में तुलना दार्शनिक सम्प्रत्ययों की सममिति की अभिव्यक्ति है। जैसे बौद्धों की 'शून्यता', अद्वैतों का 'ब्रह्म', शैवों का 'शिव'। इन सम्प्रत्ययों को सदृश मानना सममिति के सम्प्रत्यय को व्यक्त करता है। "यह सममिति ही तुलनात्मक दर्शन की प्रेरक शक्ति है।" समान पृष्ठभूमि के दर्शनों की अपेक्षा असमान पृष्ठभूमि के दर्शनों के बीच तुलना अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि इस बाद वाली स्थिति में दार्शनिक को सादृश्य की कल्पना करनी पड़ती है। यह कल्पना दर्शनों की भिन्नता को उनके मूलभूत सामान्य सम्प्रत्ययों के सादृश्य के अन्वेषण द्वारा मिटा देती है। प्रो. राय यहाँ पूर्वकल्पित सादृश्य के अन्वेषण की चक्रकता को ही दोषपूर्ण नहीं मानते, क्योंकि यह पद्धति उसी प्रकार प्रश्नों द्वारा नियन्त्रित होती है जिस प्रकार से वैज्ञानिक पद्धति। तुलनात्मक दर्शन, अपने अवैयक्तिक और वस्तुगत क्षितिज के कारण, परम्पराओं और व्यक्तियों की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ समष्टि चेतना या पराचेतना के गहन आयामों को समझने का प्रयास करता है।" (देखें, पृ. 62-63)

प्रो. राय का तुलनात्मक दर्शन की पूर्णता और सीमा को दर्शाने वाला यह निष्कर्ष तार्किक और अचम्भित करने वाला है कि तुलनात्मक दर्शन का लक्ष्य 'सत्ता गोलाकार है' या 'सत्ता मूल्य है' की अनुभूति कराना है जो इस सत्य के युगपत् प्रकटन और आच्छादन के अनुभव में निहित है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि प्रतीकों द्वारा प्रकटित सत्य उन्हीं के द्वारा अवरोधित भी होता है। (देखें, पृ. 63-64)

प्रो. राय स्पष्ट करते हैं कि हमारी सम्प्रत्ययात्मक चेतना अनिवार्यत: तुलनात्मक होती है। जब हम दर्शन की परीक्षा या मूल्यांकन का प्रश्न उठाते हैं तो यह तुलना का ही प्रश्न होता है। अत: हमारे समक्ष आवृत तुलना और अनावृत तुलना में चयन करने का ही विकल्प शेष रहता है। दर्शन की आवृत तुलना अन्त:प्रणाली (इन्टरसिस्टम) संवृत्ति है, जो उस दर्शन की सीमाओं के अन्दर ही कार्यान्वित होती है। इस प्रकार की तुलना किसी दर्शन-प्रणाली की संगतता को सम्भव बनाती है, परन्तु उसकी प्रासंगिकता की गारण्टी नहीं देती। इसके विपरीत तुलनात्मक दर्शन अनावृत तुलना और अनावृत दर्शन का प्रकार है जो अन्तर्प्रणाली (इन्टरसिस्टम) संवृत्ति है और इसकी कोई निश्चित सीमाएँ नहीं

होतीं। अनावृत तुलना का अर्थ है विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के मध्य संवाद स्थापित करना या किसी प्रणाली को अनुभव की विद्यमान विधि से सम्बद्ध करना। इस प्रकार की तुलना या मूल्यांकन से ही किसी प्रणाली की प्रासंगिकता को दर्शाया जा सकता है। (देखें, पृ. 65-66)

प्रो. मोरेश्वर प्रसाद मराठे का विश्लेषणात्मक तत्परता में निबद्ध आलेख खण्डनात्मक है। प्रो. मराठे तुलनात्मक दर्शन की चर्चा के सम्पूर्ण पर्यावरण की सूक्ष्म छानबीन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तुलनात्मक दर्शन की कोई स्पष्ट, सार्थक और सर्वसम्मत अवधारणा हमारे को उपलब्ध नहीं है। ऐसी अवस्था में तुलनात्मक दर्शन की भूल-भुलैया से निकलकर **त्रिविधा च शास्त्र प्रवृत्ति** के अनुरूप दार्शनिक होने के धर्म का निर्वाह किया जाना चाहिए, क्योंकि "दार्शनिक स्वदेशी के बिना दार्शनिक परदेशी या दार्शनिक स्वदेशी के स्थान पर या उसके विरोध में दार्शनिक अन्तर्देशी दार्शनिक आत्मघाती और अस्वीकार्य है।" (देखें, पृ. 80-81)

अब, यह तो स्पष्ट है कि अदार्शनिक तुलनात्मक दर्शन का अधिकारी नहीं होता और जो दार्शनिक है उसके लिए यह एक संकट है। दर्शन का आचार्य स्वसमय और परसमय का ज्ञाता होता है, जैसे शान्तरक्षित, जिन्हें वह सम्यक्-मिथ्या, सम्भाव्य-असम्भाव्य या ग्राह्य-अग्राह्य के रूप में बौद्धिक रूप से देखने को बाध्य होता है। इसीलिए उसका संवाद पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष प्रणाली में बद्ध खण्डन-मण्डनात्मक होता है। वस्तुत: ज्ञान की प्रत्येक प्रणाली का यही स्वरूप होता है। ज्ञान परीक्षा-प्रणाली से प्राप्त होता है और इस क्षेत्र में व्यक्ति की तर्कबुद्धि से भिन्न उसका कोई प्रभु नहीं होता। फिर भी, यदि तुलनात्मक दर्शन को दर्शनों का समन्वयक और उनका मूल्यांकन करने वाला माना जाता है तो हमें **नैकस्मिन्नसम्भवात्** सूत्र को नहीं भूलना चाहिए। यही नहीं, प्रत्येक समन्वय नये विवाद को जन्म देने वाला होता है। जहाँ तक मूल्यांकन का प्रश्न है, यह अधिकार तो प्रत्येक दार्शनिक को स्वत: प्राप्त है। इस प्रकार से प्रो. मराठे के तर्कों का तार्किक विस्तार यही होगा कि चूँकि प्रत्येक सार्थक दार्शनिक प्रयत्न स्वसमय-परसमय की द्वन्द्वात्मकता, तुलनात्मकता और आलोचनात्मकता को लिए होता है अत: दर्शन से परे जाकर किसी तुलनात्मक दर्शन नामक नई शिक्षा की सम्भावना और आवश्यकता नहीं है।

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का आलेख अवरुद्ध तुलनात्मक दर्शन को पुन: संचालित कर देता है। उनके अनुसार दर्शन चेतना की असाधारण वृत्ति है जो कदाचित् सम्भव होती है। सामान्यत: मानवीय चेतना वस्तुनिष्ठता में आबद्ध एक विषय-व्यवस्था के रूप में, विज्ञान, कला, इतिहास, धर्म या राजनीति के रूप में प्राप्त होती है। इस प्रकार की चेतना का प्रत्यङ्मुख-विमर्शात्मक अनुव्यवसाय ही दर्शन है, जो एक प्रकार से 'ज्ञान का ज्ञान' है। लेकिन, जब यही विमर्शात्मक चेतना तन्त्रबद्धता के कारण वस्तुनिष्ठ चेतना होकर

इतिहास का अंग बन जाती है जो इसलिए होता है क्योंकि वस्तुनिष्ठता चेतना की सहज वृत्ति है, तो उस चेतना के पुनर्विमर्श के रूप में तुलनात्मक दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। अत: दर्शनों के दर्शन के रूप में तुलनात्मक दर्शन विमर्शात्मक चेतना में पुनर्विमर्श है। (देखें, पृ. 119-122)

डॉ. शर्मा पुनर्विमर्श को स्पष्ट करते हुए उसे एक प्रकार का द्वन्द्वात्मक दर्शन मानते हैं, जो द्वन्द्वन्याय से भिन्न है। द्वन्द्वन्याय में बुद्धि के अन्तर्विरोधों या विरोधी दृष्टियों को दृष्टिमात्र के निषेध के रूप में या उन्हें एक सुसंगत व्यापक तन्त्र में समायोजित कर उपशान्त किया जाता है, जबकि 'दो या दो से अधिक वैकल्पिक दृष्टियों की तुलना से आरम्भ होने वाले द्वन्द्ववाद (तुलनात्मक दर्शन) में भी वैकल्पिकता के द्वन्द्व का उपशमन समानान्तर विकल्पों के अतिक्रमणपूर्वक ही होता है। लेकिन इस अतिक्रमण में वैकल्पिक दृष्टियों का निषेध नहीं किया जाता बल्कि एक आधारभूत दृष्टि में उन्हें प्रतिस्थापित किया जाता है, ऐसी आधारभूत दृष्टि जो उन विकल्पों का मूल लक्षण (आर्केटाइप) जैसा होता है और उन्हें (उनके भेदों को) धारण करता है। (पृ. 123)

यहाँ डॉ. शर्मा श्री यशदेव शल्य के मत को आत्मसात् और अंगीकार कर लेते हैं जिसकी चर्चा अब क्रम प्राप्त है। लेकिन, यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि वैकल्पिक दृष्टियों और विरोधी दृष्टियों में क्या अन्तर है? क्या विरोधी दृष्टियाँ भी तुलनात्मक दर्शन के लिए वैकल्पिक दृष्टियाँ बन जाती हैं? यदि ऐसा है तो पार्मेनाइडीज़ और हेरेक्लाइटस का तुलनात्मक दर्शन क्या होगा? डॉ. शर्मा इस प्रश्न का उत्तर शल्य जी पर छोड़ देते हैं, क्योंकि वे स्वयं इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते कि वह आधार दर्शन क्या है जिसका तुलनात्मक दर्शन संधान करता है।

श्री यशदेव शल्य को तुलनात्मक दर्शन के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि गोएटे के मूल वानस्पतिक आकृति (आर्केटाइप), नोम चोम्स्की के शुद्ध-मूल व्याकरण (डीप ग्रामर), रुडोल्फ कार्नप की तार्किक वाक्य-रचना (लॉजिकल सिन्टेक्स) और भर्तृहरि के परावाक् सम्बन्धी अभिनिवेशों से प्राप्त होती है।

शल्य जी के अनुसार मूलगामी तुलनात्मक दर्शन वही है जो विभिन्न दार्शनिक प्रयत्नों और स्थापनाओं में तुलना के माध्यम से उस आधार तत्त्व का संधान करता है जो इन प्रयत्नों की भिन्नता को धारण करता है। (पृ. 88) अब यहाँ तुलनात्मक दर्शन प्रातिभ का ही पुनरीक्षण है, क्योंकि शर्त यह है कि तुलनात्मक दर्शन अपने जिस अध्यवसायात्मक व्यापार द्वारा आधार तत्त्व या आधार दर्शन का संधान करता है वह प्रातिभ द्वारा पूर्वगृहीत होना चाहिए। (पृ. 89)

यहाँ शल्य जी का यह कथन एक पहेली सा प्रतीत होता है कि, "...आधार दर्शन का यह संधान, दर्शन की परिभाषा देकर भी हो सकता है...।" (पृ. 88) परन्तु यह

यथार्थ ही है क्योंकि विभिन्न दर्शनों में अन्तर्निहित अभिन्नता तो दर्शनमात्र का लक्षण ही हो सकता है। अब यदि ऐसा है तो पूर्व में उपस्थापित प्रश्न का समाधान यह होगा कि पार्मेनाइडीज़ और हेरेक्लाइट्स की तुलना का अर्थ यह निर्णय करना है कि वे अपनी स्थापनाओं में दर्शन के मूल लक्षण को किस सीमा तक चरितार्थ कर पाते हैं? यहाँ तुलनात्मक दार्शनिक स्वयं दार्शनिक बनकर दर्शन के उद्दिष्ट की प्राप्ति के लिए सत् और सम्भूति की दार्शनिक समस्या का समाधान करने में स्वयं उद्यत हो सकता है, जिसके कारण यह प्रतीत होता है कि वह दर्शनों का समन्वय करता है। इसी कारण यह प्रतीति हमें प्लेटो, अरस्तू और हेगल के दर्शनों में होती है। शल्य जी के अनुसार तुलनात्मक दर्शन इस नयी संवृत्ति से पृथक् ही होता है, न यह दार्शनिक साम्य है न दार्शनिक समन्वय।

अब, यहाँ शल्य जी के आलेख के विस्तार में जाना सम्भव नहीं है, तो भी उनके तुलनात्मक दार्शनिक परिस्थितियों के आकलन में निहित अभिनिवेश का उल्लेख करना उचित होगा। उनके अनुसार दर्शन एक विमर्शात्मक चेतना है जिसका मूलभूत लक्षण या जिसकी आदिम संरचना 'विचारात्मक चैतन्य की प्रत्यङ्मुख वृत्ति है।' (पृ. 107) अब, विभिन्न दर्शनों में यह मूलभूत संरचना ही अपने अवधारण-भेद, अभीप्सा और सांस्कृतिक भेद के कारण विभिन्न रूपों को ग्रहण कर लेती है। उदाहरण के लिए प्राचीन ग्रीस और आधुनिक पश्चिम से भिन्न "प्राचीन भारत में हम सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान को औपाधिक मानकर निरुपाधिक की सिद्धि की अभीप्सा देखते हैं।" (पृ. 94) अब दर्शन की आदिम संरचना और प्राचीन भारतीय मनस् की मूल्य-दृष्टि की एकाकारता के कारण ही वसुबंधु, सांख्य और शंकर बाह्यार्थ के निषेध में जिस पर्यन्तता तक पहुँचते हैं उस सीमा तक कोई भी पाश्चात्य दार्शनिक नहीं पहुँच पाता, न डेकार्ट, न बर्कले, न हेगल और न हुस्सर्ल। उपर्युक्त तीनों भारतीय दार्शनिकों के अनुसार शुद्ध चैतन्य—आत्म पर्यवसित चैतन्य—न स्वयंप्रकाश है, न परप्रकाशक, वह मात्र प्रकाश स्वरूप है। (तीनों दर्शनों में अन्य अनेक हेतुओं से भेद भी उजागर किया गया है।)

पुस्तक के प्रथम खण्ड में तुलनात्मक दर्शन की पृष्ठभूमि और पाश्चात्य सांस्कृतिक उपनिवेशवाद की चर्चा छाई हुई है, लेकिन तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा को लेकर लेखकों में एक राय नहीं है। प्रो. अशोक कुमार वर्मा स्वीकार करते हैं कि तुलनात्मक दर्शन की विशेष विषय-वस्तु, पद्धति और सर्वमान्य उद्देश्य स्पष्ट नहीं हैं। (पृ. 83) यहाँ वे तुलनात्मक दर्शन पर 1939 में होनोलूलू, हवाई में आयोजित सम्मेलन का उल्लेख करते हैं, जिसका विषय था—संसार के सभी दर्शनों और आदर्शों का अध्ययन कर समन्वयात्मक दृष्टिकोण विकसित करना और एक विश्वदर्शन की सम्भावना ढूँढना। (पृ. 86) लेकिन सम्मेलन में एक टिप्पणी उभरकर यह आई कि तुलनात्मक दर्शन न तो सम्भव है और न वांछनीय है। (देखें, पृ. 135)

प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय तुलनात्मक दर्शन द्वारा प्रज्ञा प्रधान प्राच्य और बुद्धि प्रधान पाश्चात्य के समन्वय पर बल देते हैं। (पृ. 112) और अधिक व्यापक रूप से तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य बौद्धिक पाश्चात्य, सौन्दर्यात्मक जापान, नैतिक चीन और तात्त्विक भारत में समन्वय स्थापित करना है। (पृ. 114) लेकिन अन्ततः तो वास्तव में तुलनात्मक दर्शन के आदर्श का साक्षात्कार अद्वैत की भावभूमि पर ही सम्भव है। (पृ. 116)

डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल के अनुसार, "जब तक पूर्व-पूर्व और पश्चिम-पश्चिम के रूप में अलग-अलग हैं तभी तक तुलनात्मक दर्शन सम्भव है। (पृ. 130) "तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य दो सांस्कृतिक समूहों के बीच समझ को बढ़ाना है न कि दोनों के बीच किसी किस्म का एकीकरण करना है।" (पृ. 129-130) लेकिन, प्रो. संजीवन प्रसाद पुनः समन्वय और सामंजस्य की बात करते हैं। उनके अनुसार तुलनात्मक दर्शन का मुख्य आधार मानवतावाद है और इसी आधार पर एकांगिकता को दूर कर प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों में समन्वय सम्भव है। (पृ. 134) लेकिन, समन्वय पूर्वमान्यताओं से युक्त होता है जिनकी समीक्षा की आवश्यकता होती है। इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन समीक्षात्मक दार्शनिक समन्वय है। (देखें पृ. 137-138)

इस कृति के द्वितीय एवं तृतीय खण्ड तुलनात्मक दर्शन की वास्तविक संवृत्ति को समझने में सहायक हैं। प्रो. रानाडे पाश्चात्य मूर्धन्य दार्शनिक कांट और वेदान्त प्रस्थानान्तर्गत **श्रीमद्भगवद्गीता** में साम्य का अन्वेषण करते हैं। वे कांट के तीन आलोचनों को यथावत् रखते हुए उन्हें प्रातिभ के आलोचन से पूर्ण करना चाहते हैं। (देखें, पृ. 153) परन्तु क्या कांट के दर्शन में नैतिकता के अभ्युपगमों की अपरोक्षानुभूति सम्भव है? यदि प्रातिभ ज्ञान की तार्किक सम्भावना भी हो तो क्या उसका आलोचन असम्भव नहीं है, जैसा कि शून्यवाद या 'नेति-नेति' द्वारा प्रतिपादित किया जाता है? यदि फिर भी ऐसा आलोचन सम्भव है तो वस्तुतः हम पुनः दार्शनिक वाद-विवाद के दंगल में प्रवेश कर जाते हैं, जहाँ तर्कबुद्धि द्वारा ही अन्तिम निर्णय सम्भव हो सकता है।

प्रो. रानाडे के अनुसार कांट के प्रथम आलोचन का केन्द्र-बिन्दु और बीज उसका तत्त्वमीमांसीय द्वन्द्वों विषयक अध्याय है और **गीता** में भी तत्त्वमीमांसीय द्वन्द्वों को उठाया गया है और फिर उनका समाधान हेगलीय द्वन्द्वन्याय के सदृश किया गया है। यहाँ ध्यातव्य है कि (1) कांट ने द्वन्द्वों का समाधान भिन्न प्रकार से किया है और फिर भी चिन्तनात्मक तत्त्वमीमांसा को असम्भव पाया है। (2) **गीता** की मुख्य समस्या तत्त्वमीमांसीय नहीं है। (3) **गीता** में प्राप्त मतान्तर-चिन्तन के स्थान पर विभिन्न निष्ठाओं को एकत्र करने की दृष्टि है। यही कारण है कि प्रो. रानाडे के दृष्टिगोचर द्वन्द्व और समाधान **गीता** के विभिन्न प्रकरणों के अंश हैं। (देखें, पृ. 154-157)

गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय समत्व योग है और कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग उसी के रूपान्तरण हैं। परन्तु कांट के अहैतुक आदेश के साथ **गीता** के

कर्मयोग की तुलना करने पर प्रो. रानाडे उसे गौण-उपनियम का स्थान देने को बाध्य हो जाते हैं। उनके अनुसार 'समत्वं योग उच्यते' सूत्र कांट के 'मनुष्यता को साध्य मानने का नियम' के सदृश है। (पृ. 157) **गीता** को समाजवाद से कोई आपत्ति नहीं है बल्कि उसका आचार-दर्शन इसकी संसिद्धि करने में भी समर्थ है, परन्तु समत्व योग के आध्यात्मिक मूल्य को भुलाना उचित नहीं है। प्रो. रानाडे इस भेद को नहीं जानते, यह कहने का हमारा तात्पर्य नहीं है, परन्तु तुलनात्मक दर्शन की उनकी सोच उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य कर देती है।

कांट के तृतीय आलोचन का एक विषय उदात्त भावना है जहाँ मन दृश्य विषय या प्रकृति द्वारा जीत लिया जाता है। **गीता** में इसका विवेचन हमें 11वें अध्याय में प्राप्त होता है, किन्तु कांट यह भी मानते हैं कि, "मनुष्य जानता है कि उसकी आन्तरिक आत्मा प्रकृति की इन सकल शक्तियों से विशाल है और आन्तरिक विजय प्रकृति की विजय से कहीं उच्चतर है।" (पृ. 159) इस पर संक्षेप में यहाँ विचार अपेक्षित है।

कांट के अनुसार आत्म-विजय ही सर्वोत्कृष्ट उदात्त है। गीता में वर्णित प्रिय भक्त का स्वरूप समत्व योग और आत्म-विजय की पराकाष्ठा है। (देखें, **गीता** 12/13-20) यहाँ एक लक्षण यह दिया गया है कि ऐसा भक्त प्रिय भक्त है जिससे लोक उद्वेग को प्राप्त नहीं होता ओर जो (स्वयं भी) लोक से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता। (यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य:) आत्म-विजय की यही सटीक परिभाषा है। इसी आत्मा को गुणातीत 7 अध्याय 14/25) और नैष्कर्म्यसिद्ध (अध्याय 18/49) कहा गया है। यह जितात्मा शान्त प्रशान्त है, समता, क्षमा, और करुणा से युक्त है, निर्मम, निरहंकार और वीतरागी है, क्योंकि सर्व शुभाशुभ आरम्भों का परित्यागी किन्तु शुचिदक्ष है। **गीता** के अनुसार यह अहिंसक अतिमानवीय स्वरूप ही उदात्त भावना को प्रकाशित करता है।

यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि क्या स्थितप्रज्ञ उदात्त नहीं है? यदि स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण **गीता** के द्वितीय अध्याय में प्राप्त होते हैं और वहाँ अन्य किसी लक्षण (सर्वारम्भ परित्यागी) का अध्याहार नहीं किया जाता है तो स्थितप्रज्ञ और उपर्युक्त श्रेष्ठ भक्त या गुणातीत में स्पष्ट भेद सिद्ध होता है। यद्यपि स्थितप्रज्ञ भी उदात्त है क्योंकि वह लोक से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और शुभाशुभ फलों की प्राप्ति में सम रहता है, किन्तु वह कर्मयोगी है, उसके द्वारा अनेक प्रकार के आरम्भ—शुभाशुभ कर्म—किये जाते हैं जो लोक को विचलित करने वाले हो सकते हैं और होते हैं। यद्यपि वह अनासक्त भाव से कर्मों को करता है परन्तु अनासक्ति की परिपूर्णता अभी शेष है। अत: **गीता** का स्थितप्रज्ञ का आदर्श उदात्त है परन्तु गुणातीत पूर्णरूपेण उदात्त है।

यहाँ तुलनात्मक दर्शन के प्रयोजन से एक और टिप्पणी करना उचित होगा। कांट और **गीता** दोनों के लिए नैतिक आचरण आवेगों से मुक्ति और स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति

है एवं कांट भी नैतिकता की परिपूर्णता को एक तार्किक मांग मानते हैं। कांट में पूर्णता की अवधारणा अन्वेषणीय है जबकि **गीता** में यह स्पष्ट है—समत्व योग के बल पर कर्म से निष्कर्मता, अर्थात्—ब्राह्मीस्थिति और तदुपरान्त ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होना।

द्वितीय खण्ड के अन्य आलेखों में क्रमश: कांट और मीमांसा के मध्य, शंकर और हुस्सर्ल के मध्य, श्री अरबिन्द और पॉल तिलिच के मध्य, श्री अरबिन्द और हेगेल के मध्य एवं पाश्चात्य व भारतीय यथार्थवाद के मध्य तुलना करने का प्रयास किया गया है।

प्रो. नित्यानन्द मिश्र शंकर और हुस्सर्ल में तुलना के साथ उनके मतों की समीक्षा भी करते हैं। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, "शंकर और हुस्सर्ल दोनों ही विश्व, ईश्वर तथा जीव के परे शुद्ध निरपेक्ष चैतन्य को ही एकमात्र मूलभूत तत्त्व मानते हैं।" (पृ. 179) किन्तु, हुस्सर्ल के लिए शुद्ध चेतना भी विषयोन्मुख है, अर्थात् विषय-विषयीभाव से सदा युक्त है जबकि शंकर के लिए शुद्ध चेतना अर्थात् सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने सारभूत स्वरूप में विषय-विषयी भेद के परे विषय-निरपेक्ष या निर्विषय ज्ञानमय है। प्रश्न उठता है कि यह निर्विषय ज्ञानमय किस अर्थ में ज्ञानमय है? हुस्सर्ल की विषयोन्मुख चेतना की अवधारणा सुसंगत है। लेकिन, शंकर जब यह कहते हैं कि पारमार्थिक स्तर पर चेतना विषयहीन है तो वे चैतन्य की उचित व्याख्या करने में स्वयं को असमर्थ कर देते हैं। (देखें, पृ. 178-182)

डॉ. रघुनाथ गिरि उदयनाचार्य की इस प्रतिज्ञा कि "ईश्वर सर्व अनुभव सिद्ध है और सभी समयों में कोई-न-कोई परम तत्त्व स्वीकार किया गया है" पर प्रश्न उठाते हैं कि क्या किसी-न-किसी रूप में किसी तत्त्व को पर-तत्त्व स्वीकार कर लेना या उपास्य मान लेना ईश्वर की स्वीकृति है? (पृ. 212)

प्रो. हृदय नारायण मिश्र मायावाद के महत्त्वपूर्ण दार्शनिक संप्रत्यय को लेकर नागार्जुन और शंकर के चिन्तन-सौष्ठव पर प्रकाश डालते हुए **वैषम्य में साम्य** का सूत्र खोजने का प्रयास करते हैं। (पृ. 224) इस लेख से यह भी स्पष्टत: ज्ञात हो जाता है कि जगन्मिथ्यात्व के अर्थ में मायावाद महायान दर्शन की देन है जिससे गौडपाद और शंकराचार्य अप्रभावित नहीं रह सके। किन्तु शांकर वेदान्त में जगन्मिथ्यात्व के साथ-साथ ब्रह्म की सर्जनात्मक शक्ति का सिद्धान्त भी है। इस द्विरूपता के कारण ही शंकर को रामानुज की सप्त अनुपपत्तियों का सामना करना पड़ता है।

प्रो. सागरमल जैन के अनुसार अनेकान्तवाद एकान्तवाद अर्थात् हठवाद का निराकरण करता है और बहुआयामी वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत विरोधी कथनों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करता है। यद्यपि इसे जैन दर्शन का पर्याय माना जाता है और इसकी सबसे प्राचीन आलोचना हमें बादरायण के **ब्रह्मसूत्र** में मिलती है, तो भी एक दार्शनिक पद्धति के रूप में, अर्थात् विरोधों का समाहार करने के लिए, अनेकान्तवाद का

आश्रय भारतीय दार्शनिकों ने व्यापक रूप से लिया है। प्रो. जैन इसका प्रामाणिक विवेचन हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं कि किस प्रकार **ऋग्वेद** के ऋषि से लेकर वैष्णव वेदान्तियों तक अनेक दार्शनिकों ने अपनी संप्रत्ययात्मक योजनाओं में बद्ध होते हुए इस पद्धति को अंगीकार किया है। (देखें, पृ. 236-49)

यहाँ. प्रो. जैन को किसी भी प्रकार से अपचयवाद का दोषी नहीं कहा जा सकता। किन्तु, जैन और जैनेतर दर्शनों में अनेकान्तवाद की भूमिका में गहरा अन्तर है। न्याय दर्शन को धर्म-धर्मी में भेदाभेद मान्य नहीं है। सांख्य दर्शन को पुरुष की परिणामी नित्यता मान्य नहीं है। इसी प्रकार, सबसे अधिक अनेकान्तवाद का समर्थन करने वाले कुमारिल भट्ट को मोक्षावस्था में सर्वज्ञता मान्य नहीं है। यदि कुमारिल भट्ट को अनेकान्तवाद और सत् की त्रयात्मकता मान्य है तो उन्हें द्रव्य की गुणपर्यायात्मकता मान्य हुई। अत: फलित हुआ कि मुक्त जीव में ज्ञान-शक्ति अनन्तज्ञान के रूप में प्रस्फुटित होती है। किन्तु यह निष्कर्ष मीमांसकों को मान्य नहीं हो सकता। अत: स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन अनेकान्तवाद को केन्द्र में रखकर उसके तार्किक परिणाम के रूप में विकसित होता है, जबकि अन्यत्र ऐसा नहीं है। जैनेतर दर्शनों में अनेकान्त यत्र-तत्र संकट मोचक है तो जैन दर्शन में सर्वत्र।

भारतीय दर्शन को पश्चिमी दृष्टि से देखना अनुचित होगा। यह सत्य है कि भारतीय दर्शन आध्यात्मिक है, किन्तु वह उतना ही तार्किक भी है। यद्यपि आध्यात्मिकता की स्थापना के लिए जगन्मिथ्यात्व के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है, जैसे नागार्जुन और शंकर द्वारा, फिर भी यह भी सत्य है कि आत्मवाद और लोकवाद को समानान्तर भी रखा गया है, जैसे जैन दर्शन और गीता के समत्व योग में। यदि फ्रेंक थिली भारतीय दर्शन को धर्म-प्रधान कहता है तो वह युक्तियुक्त मत ही रखता है। यद्यपि यह उसका दोष है कि इस आधार पर वह भारतीय दर्शन को दर्शन ही नहीं मानना चाहता। यह आश्चर्य का विषय है कि उसकी इस आलोचना का उत्तर तुलनात्मक दर्शन विषय पर प्रस्तुत इस पुस्तक में देने का कोई प्रयास नहीं हुआ है। जिस तरह से प्लेटो के दर्शन के केन्द्र में न्याय की अवधारणा है उसी तरह से भारतीय दर्शन के केन्द्र में धर्म अर्थात् सत्य और अहिंसा है। यदि दर्शन आत्मिक-कल्याण और लोक-कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करने के अपने दायित्व से मुकर जाता है तो वह कोरा क्रिया-काण्ड होकर रह जाएगा। क्या तुलनात्मक दर्शन समय की माँग है? यह तो समय ही बतायेगा, किन्तु सम्पादक महोदय ने इस विषय पर एक विचारोत्तेजक पुस्तक प्रस्तुत की है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

राजकुमार छाबड़ा
दर्शन विभाग, ज. ना. व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर।

समसामयिक चिन्ताएं, ले. यशदेव शल्य, प्रका. राका प्रकाशन, ४० ए, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद-२११००१, पृ. सं. २४०, मू. २५०

चेतना की सुप्त शक्ति को जाग्रत करना आध्यात्मिक साधना है। इस अनुभूति की युक्तिसंगत व्याख्या है दर्शन। यह आत्मदर्शन की भारतीय परम्परा है।

इससे भिन्न परम्परा है अनात्म दर्शन की। अनात्म-दर्शन की व्याख्या है यूरोपीय दर्शन, जिससे आधुनिक भारतीय विश्वविद्यालीय दर्शन-चिंतन-जीवन आक्रांत है।

धीरे-धीरे इस अनात्म-दर्शन के भौतिक जगत् की व्याख्या तक सीमित होते जाने के कारण दर्शन गौण हो गया और भौतिक विज्ञान को प्रमुखता प्राप्त हो गई। आधुनिकता इसी की उपज है। अत: भौतिक विज्ञान की प्रभा में दर्शन की आभा मंद पड़ गई। वह वाग्जाल और तर्काश्रित पिष्टपेषण तक ही सीमित हो गया है जिसका मानव-जीवन के यथार्थ से, वाद-विवाद के अतिरिक्त, आज नाम मात्र का संबंध रह गया है।

भारतीय परम्परा में दर्शन बौद्धिक विलास या वाग्जाल नहीं बल्कि जीवन के सत्य को प्राप्त कर उसके अनुसार जीवन जीना है। इसीलिए इस परम्परा में ऋषि और कवि समानार्थक हैं, जिन्हें द्रष्टा माना गया है। जो द्रष्टा नहीं उसका दर्शन क्या? इसका उपसूत्र है कि जो द्रष्टा नहीं है वह स्रष्टा भी नहीं हो सकता। इसीलिए प्रजापति को भी कवि कहा गया है।

मैकाले की शिक्षा-नीति इस दृष्टि से सफल रही कि गोरे साहिबों का स्थान काले साहिबों ने ले लिया। लेकिन नकल नकल है, असल का स्थान वह कभी नहीं ले सकती। संसार में हमारी पहचान भारतीय के नाते ही होगी, अन्य कोई पहचान संभव ही नहीं है। हाँ, अप्राकृतिक प्रयास में हम अपने को चाहें जितना विकृत कर लें।

अद्वैत दर्शन को आइन्स्टीन के $E=mV^2$ ने वैज्ञानिक रूप में प्रमाणित कर ब्रह्म और ब्रह्माण्ड की तात्त्विक एकता भी प्रमाणित कर दी है। फिर भी भौतिक विज्ञान अभी न्यूटन के द्वैत से बँधा हुआ है और अद्वैत सांख्य के द्वैत से। दर्शन और विज्ञान दोनों को द्वैत का मोह छोड़ना कठिन हो रहा है। पर $E=mV^2$ ही गाँधी और आइन्स्टीन, आत्म और अनात्म, पूरब और पश्चिम, सनातन और आधुनिक का वह मिलन-बिन्दु है जो मूल प्रस्थान बन हमारी उलझन को सुलझा सकता है।

भेद-दृष्टि का, द्वैत-भाव का, कारण क्या है? इस संबंध में जयशंकर प्रसाद की यह उक्ति विचारणीय है–''यह मानते हुए विज्ञान और सौन्दर्य-बोध विश्व-व्यापी वस्तु हैं,

इनके केन्द्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानत: संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं। खगोलवर्ती ज्योति-केन्द्रों की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर संबंध हो सकता है। वही आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि की नीलिमा में सौन्दर्य-बोध के लिए अपनी अलग-अलग सत्ता बना लेता है।'' (**काव्य और कला तथा अन्य निबंध**, पृ. १) पाश्चात्य दर्शन वैज्ञानिक होने का दावा भले ही करे पर उसमें अभी इस खगोलवर्ती दृष्टि का अभाव है। इसीलिए वह सत्य के बदले सत्ता की खोज में लगा हुआ है। पर भारतीय दर्शन आज भी सत्ता की विवेचना सत्य की दृष्टि से करता है। इसका प्रमाण है श्री यशदेव शल्य रचित **समसामयिक चिन्ताएँ**।

श्री यशदेव शल्य ऐसे आधुनिक भारतीय दार्शनिक हैं जिनका भारतीय विश्वविद्यालीय दार्शनिकों से स्वतंत्र चिंतन है। वे पूरवी और पश्चिमी दोनों परम्पराओं के निष्णात पंडित तो हैं पर वे भारतीय दार्शनिक परम्परा की भूमि में ही, उसे उर्वरा बनाकर, उसमें अपने चिंतन-मनन के परिपक्व बीज लगभग पाँच दशकों से डालते आ रहे हैं। पर 'समसामयिक चिन्ताएँ' दर्शनशास्त्र का ग्रंथ नहीं बल्कि एक भारतीय दार्शनिक के समसामयिक विषयों पर समय-समय पर लिखे गये निबंधों का संकलन है।

यह एक दार्शनिक की पुस्तक है, अत: सबसे पहले मैं उनके 'समकालीन भारतीय दर्शन : स्थिति और परिस्थिति' की चर्चा करूँगा जिसमें उन्होंने डॉ. के. सच्चिदानंद मूर्ति, डॉ. नन्दकिशोर देवराज तथा डॉ. मार्गरेट चटर्जी द्वारा संकलित-संपादित तीन ग्रंथों की समीक्षा की है। ये तीनों विश्वविद्यालयीय परम्परा के दार्शनिक ग्रंथ हैं जो उस यूरोप-केन्द्रित दृष्टि से अनुवाद-भाष्य-विवेचन-अध्ययन-अध्यापन करते रहे हैं जिसके शिखर पुरुष थे डॉ. राधाकृष्णन्। इनकी दृष्टि भारतीयों की भारतीय दृष्टि नहीं बल्कि पाश्चात्यों की भारतीय दृष्टि थी, जिसका क्या अर्थ होता है, इस पर एड्वर्ड सईद ने 'ओरियेण्टलिज़्म' नामक अपनी पुस्तक में विवेचना की है। अत: यह स्वाभाविक है कि शल्य जी जैसे चिन्तक इससे सहमत नहीं हो सकते। निष्कर्ष के रूप में उन्होंने लिखा है–''पश्चिम के पीछे दौड़ने की प्रवृत्ति क्रमश: बढ़ रही है। ... हमारा शिक्षा और प्रशासन-क्षेत्रों का अग्रणी वर्ग इन्द्रियार्थ-मूलक संस्कृति का ही अनुसरण कर रहा है। किन्तु भारत का जनमानस इस वर्ग का अनुसरण करने को तैयार नहीं है, यह स्पष्ट है। इस कारण यह वर्ग सन्दर्भ-विच्छिन्न और निराधार ही रह सकता है। इसलिए मुझे इसके लिए कोई भविष्य दिखायी नहीं देता।'' (पृ. २०५)

क्या भारत के लिए, सच पूछिए तो पूरे मानव-समाज के लिए, यह स्थिति भयावह नहीं है? इन्द्रियार्थ-मूलक संस्कृति के अग्रणी थे पं. नेहरू और जन-मानस के निकट थे महात्मा गाँधी, शल्यजी का ऐसा मानना है। पर स्वतंत्र भारत चला पं. नेहरू के मार्ग पर ही, न कि महात्मा जी के मार्ग पर, क्योंकि इन्द्रियार्थ-मूलक मार्ग का भेड़ियाधसान अनुकरण युगधर्म है। डॉ. सम्पूर्णानन्द का जो उद्धरण शल्यजी ने दिया है, कितने विद्वानों

को उसका पता है? वैसे अभी अमेरिका में कराये गये सर्वेक्षण के अनुसार ९८ प्रतिशत अमेरिकी ईश्वर में आस्था रखते हैं, पर जिस ईश्वर में आस्था रखते हैं उस ईश्वर का दर्शन उन्हें कुबेर देवता के रूप में ही होता है, शूली पर चढ़े ईसा मसीह के रूप में नहीं। विरोधाभास यह है कि भारत में कल-कारखानों के रूप में नये मन्दिर बनाये जा रहे हैं और अमेरिका में पचास हज़ार से ऊपर योग-केन्द्र चलाये जा रहे हैं। पर ये वस्तुत: आध्यात्मिक साधना के नहीं बल्कि शारीरिक आरोग्य-लाभ के केन्द्र हैं, वैसे ही जैसे हमारे आधुनिक भारत के कारखाने रूपी मन्दिर!

स्पष्ट है कि 'समकालीन भारतीय दर्शन' का हमारी समस्याओं के समाधान में योगदान लगभग नगण्य है। समस्याओं का समाधान विचार और आचार के योग से होता है। आचार्य शब्द का मूल यही है। ये आचार्य गुरुकुलों और आश्रमों में शिक्षा देते थे। तभी तुलसीदास ने लिखा था–'गुरु गृह पढ़न गये रघुराई।' कृष्ण भी संदीपनी के आश्रम में शिक्षा प्राप्त करने के लिए गये थे। पर द्रोणाचार्य पहुँच गये कौरवों के राजभवन में ट्यूशन करने! परिणाम हुआ महाभारत।

आचार में विचार की महत्ता इसलिए है कि आचार की भ्रष्टता का मूल है विचार की भ्रष्टता। विचार भ्रष्ट होने पर आचार भी भ्रष्ट होकर रहेगा। दर्शन और साहित्य विचार को संस्कार न दें तो आचार भ्रष्ट होगा, समाज पतनोन्मुख होगा। आचारहीन विचार पंगु है और विचारहीन आचार अंधा। विचार और आचार के मणि-कांचन योग से जीवन समृद्ध होता है। समसामयिक विषयों पर शल्यजी के ये निबंध इसी भावना से प्रेरित होकर लिखे गये हैं।

शल्यजी ने महाभारत के 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति:' को उद्धृत किया है। (पृ. २९) दुर्योधन का यह जानना आधुनिक युग की सूचना जैसा है जिसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता। 'सत्यं वद' का पाठ युधिष्ठिर और दुर्योधन को एक-साथ पढ़ाया गया। युधिष्ठिर को यह पाठ जीवनपर्यंत याद रहा, दुर्योधन तुरंत भूल गया। यह विस्मरण आत्म-विस्मरण-सरीखा है। इससे मन की एकाग्रता नष्ट होती है और संशय का जन्म होता है जो विनाश को आमंत्रित करता है–संशयात्मा विनश्यति। (गीता)

शल्यजी लिखते हैं कि ''अध्यात्म अतिक्रामी होता है। यह अतिक्रामिता सर्वसमावेशी होती है। इस प्रकार यह अध्यात्म आस्था और तर्क दोनों का अपने में समावेश करता है। इस समावेश से तर्क की अपर्याप्तता आपादित होती है।'' (पृ. २१५) अध्यात्म भारत में फूला-फला पर पश्चिम में उसका लोप हो चुका है, क्योंकि वहाँ महत्त्व संस्कार और गुण-विकास का नहीं बल्कि साक्षारता और सत्ता का है। पर संस्कार के लिए साक्षरता अपर्याप्त है। उसके लिए चाहिए शिक्षा। भारतीय चेतना में समष्टि-चेतना के रूप में यह विद्यमान रही है, तभी यहाँ कबीर, रामकृष्ण और रमण जैसे

निरक्षर व्यक्ति आध्यात्मिक अनुभूति को प्राप्त कर वंदनीय बन गये। अतिक्रमिता की इस सूक्ष्म शक्ति की भौतिक विज्ञान उपेक्षा करता आ रहा है जिसके कारण आधुनिक समाज में समृद्धि के बावजूद मन की विपन्नता बढ़ती जा रही है।

शल्यजी ने कई निबंधों में प्रजातंत्र के विभिन्न पक्षों पर विचार किया है। यूनान और रोम का प्रजातंत्र वस्तुतः अभिजाततंत्र था और आधुनिक प्रजातंत्र वस्तुतः धनतंत्र है। आज इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता इसीलिए नहीं है कि आज सर्वत्र बाज़ारवाद का वर्चस्व है। धन ही सर्वोपरि मूल्य है, ऐसा मूल्य जिसमें पूँजीवाद और मार्क्सवाद दोनों को समान रूप से विक्रय की वस्तु बना दिया गया है। नेता को अभिनेता ने अपदस्थ कर दिया और अभिनेता को विक्रेता ने। आज सबकी कीमत आँकता है बाज़ार। बाज़ार के पास पैसा है और है प्रचार का आधुनिकतम साधन, जो तिल को ताड़, अधर्म को धर्म और अन्याय को पलक मारते न्याय साबित कर देता है। भारत में सभी धर्मों के लोग ऊँचे से ऊँचे पदों पर पहुँचते हैं, फिर भी यह धर्म-निरपेक्ष नहीं है! और यूरोप-अमेरिका में केवल ईसाई ही राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री हो सकते हैं, फिर भी वे धर्म-निरपेक्ष हैं, क्योंकि धनतंत्र की चाभी उनके हाथों में है!

यह प्रचार का ही जादू है कि डॉ. भगवानदास, म.म. पं. रामावतार शर्मा, प्रो. आर. डी. राणाडे, पं. गोपीनाथ कविराज, आनंद कुमार स्वामी और अरविन्द जैसे दार्शनिकों को विस्मरण कर केवल राधाकृष्णन्, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, हिरियन्ना जैसे पाश्चात्य शैली के दार्शनिकों का स्मरण किया जाता है। ऐसी स्थिति में आधुनिक भारतीय दर्शन आधुनिक जीवन से कैसे जुड़ सकता है?

जब हम अरस्तू, काण्ट, हेगेल, रसेल जैसे दार्शनिकों की राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के प्रकरणों में चर्चा करते हैं तो शस्त्र और शास्त्र दोनों में पारंगत चाणक्य की चर्चा क्यों नहीं करते? चाणक्य का 'अर्थशास्त्र' विश्व-साहित्य में इस विषय का प्राचीनतम ग्रंथ है जिसका दर्शन उतना ही युक्तिसंगत है जितनी सफल थी चाणक्य की राजनीति। चाणक्य के चार सूत्र थे– ''सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलं अर्थः। अर्थस्य मूलं राज्यं। राज्यस्य मूलं इन्द्रियजयः।'' (सुख का फल धर्म है। धर्म का मूल है अर्थ। अर्थ का मूल है राज्य। राज्य का मूल है इन्द्रिय-जय) भारतीय दर्शन और भारतीय शासनतंत्र यदि इन्द्रियजय की उपेक्षा करें तो वह तंत्र ताश के पत्तों की तरह बिखर जायेगा। आज विश्व भर में ऐसा ही हो रहा है। नहीं तो कोई आतंकवादी अमेरिका जैसे समर्थ और समृद्ध देश पर कैसे आक्रमण कर सकता था? शराब के कारण यदुवंशी आपस में लड़ मरे, गिबन के अनुसार रोम-साम्राज्य के पतन का कारण भी यही था। फिर भी आज दुनिया भर की सरकारें इस ओर से आँख मूँदकर पागुर कर रही हैं

शल्यजी ने लिखा है–''आज हमारा अनुसंधेय सनातन सत्य नहीं रह कर आर्थिक समृद्धि और सैन्य बल हो गया है। निश्चय ही ये समृद्धि और बल भी किसी समाज के लिए अनिवार्य होते हैं। किन्तु ये परमार्थ-स्थानीय हो जाएं, यह एक सर्वथा दूसरी बात है। राम और रावण एक ओर और महाभारत में श्रीकृष्ण की भूमिका दूसरी ओर भारतीय दृष्टि के प्रकृष्टतम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। न तो राम की अयोध्या ही स्वर्णमयी थी और न उनके पास सैन्य बल ही था। ... एकमात्र बल सत्य में आस्था थी। ... भारत की यही सनातन दृष्टि थी जो महात्मा गाँधी के साथ हमारे इस देश और काल में पुनरुन्मीलित हुई।'' (पृ. १८७) 'महात्मा गाँधी और हिन्द स्वराज' शीर्षक प्रथम निबंध में, किसी कारणवश, लेखक की यह आस्था इस स्पष्टता और दृढ़ता के साथ व्यक्त नहीं हुई है। शायद इसलिए कि ''गाँधीजी का लिहाज़ तो नेहरूजी के नेतृत्व में स्वतंत्र भारत की सरकार ने उनके देहान्त के साथ ही छोड़ दिया था।'' (पृ. १)

दर्शन की युक्तियुक्तता आस्था के आश्रित भले ही न हो पर मानव ज़ीवन तो है, क्योंकि मनुष्य विचार-प्रधान नहीं बल्कि भावना-प्रधान प्राणी है। उसका जीवन यदि विचार-प्रेरित, तर्क-संगत होता तो वह पशुओं को भी लज्जित करने वाले ढंग से इस इक्कीसवीं सदी में क्यों लड़ता? 'समसामयिक चिन्ताएँ' के निबंध हमें इस तन्द्रा से जगाते हैं।

'समसामयिक चिन्ताएँ' एक ऐसे व्यक्ति का चिन्तन है जिसने केवल पढ़ा नहीं विचारा है, केवल विचारा नहीं बल्कि उसके अनुसार जीवन जिया है। भारतीय दर्शन से जिस दृष्टि की अपेक्षा है उसे पाने के लिए शल्यजी ने अपना स्वतंत्र मार्ग स्वयं चुना और गंतव्य की ओर वे धीमी गति से आस्थापूर्वक आगे बढ़ते गये हैं।

लेकिन आज संसार भर में सरकारें विचार-बल से नहीं सैन्य-शक्ति से चलती हैं, जिसके यंत्र-तंत्र को गति देते रहने के लिए मुद्रा-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। मानव-जीवन आस्था और आशा पर टिका है–'नर हो न निराश करो मन को / बीज आज नहीं तो कल उगेगा / सुबह का भूला शाम तक तो वापस आयेगा।' शल्य जी में ऐसी आस्था है। इसीलिए मैं उनकी रचना का स्वागत करता हूँ।

इस पुस्तक में शल्यजी की चिन्ता का क्षेत्र कितना व्यापक है इसका अनुमान इसमें संकलित लेख-सूची से लगाया जा सकता है जो इस प्रकार है :

१. महात्मा गान्धी और हिन्दस्वराज्य, २. भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम और मूल्य-विमर्श, ३. तकनीकी और सामाजिक प्रगति, ४. प्रजातंत्रवाद : पुनरालोचन की आवश्यकता, ५. प्रजातंत्रवाद : पुनर्विचार के लिए प्रस्ताव, ६. प्रजातंत्रवाद : एक समीक्षा, ७. हमारी राजनीतिक परिस्थिति, ८. कारगिल युद्ध : एक भारतीय आत्म-मंथन, ९. हमारा समय : असहमतियां और अपेक्षाएँ, १०. अनेकान्त संवाद : तनाव,

संघर्ष और स्वातंत्र्य, ११. समकालीन भारतीय परिवेश की पतनोन्मुखता, १२. हमारी संस्कृति की रक्षा, १३. भारत में भारतीय भाषाएं ही क्यों?, १४. हिन्दी के विश्वभाषा के रूप में उन्नयन की संभावनाएं, १५. क्या भारतीय संस्कृति सम्मिश्र संस्कृति है?, १६. हिन्दु-मुस्लिम वैमनस्य की विवेकहीनता, १७. हमारे सेक्युलरिस्ट, १८. भारतीय सेक्युलरिज़्म और सर्वधर्म समभाव, १९. निवेदन-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से, २०. सर्जना, स्वातंत्र्य और शिक्षा, २१. शिक्षा का अर्थ और उद्देश्य, २२. संस्कृति, शिक्षा और राजनीति, २३. हिन्दु-धर्म : जीवन में सनातन की खोज, २४. स्वाध्याय-दृष्टि का मर्म, २५. समकालीन भारतीय दर्शन, २६. भारत संक्रांति में ' संदर्भ-दार्शनिक परिस्थिति, २७. समकालीन भारतीय दर्शन : स्थिति और परिस्थिति, २८. अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का जन्म और उसके दो आरंभिक वर्ष, २९. पुस्तक और मैं।

इन लेखों में एक दार्शनिक द्वारा हमारे देश की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक समस्याओं और परिस्थितियों पर विचार किया गया है, इसलिए मैं समझता हूँ कि इन पर व्यापक विमर्श और वाद-विवाद होना चाहिए।

सिद्धेश्वर प्रसाद
सेक्टर ७, ब्लाक १, फ्लैट २३ ,
बहादुरपुर एच.आई.जी. कालोनी,
कंकड़बाग, पटना-८०००२०

भारतीय दर्शन-कोश, *ले. डॉ. सन्तोष आचार्य, प्रकाशक वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, २००५, पृ. १८४, मूल्य २००/-*

भारतीय परम्परा में ग्रन्थ-रचना की पद्धति और उसके प्रकारों को जितने सुस्पष्ट रूप में परिभाषित किया गया है वैसा किसी दूसरी परम्परा में पाया जाना कठिन ही है। यहाँ ग्रन्थ-रचना के परिभाषित मानदण्डों के अनुसार **सूत्र, भाष्य, वार्त्तिक, टीका, प्रकरण, संहिता और मंजूषा तथा कोश** जैसे ग्रन्थों के लेखन का लम्बा इतिहास भी रहा है। आधुनिक समय में यह सम्भव नहीं कि बहुविध प्रकार के लेखन ग्रन्थ-रचना की पारम्परिक पद्धति और प्रकार के परिभाषित मानदण्डों के अनुरूप ही हों। परन्तु यदि कोई व्यक्ति 'कोश' जैसे ग्रन्थ की रचना करता है तो उसे ग्रन्थ की मान्य मर्यादाओं का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। **शक्तिग्रह व्याकरणोपमान कोशाप्तवाक्यं व्यवहारतश्च...** यह कहते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कोशगत वाक्यों को 'शब्दशक्तिग्रह' का एक महत्त्वपूर्ण हेतु माना है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि कोशगत व्युत्पत्ति और विवरण को अत्यन्त प्रामाणिक होना चाहिए। उसमें अनवधानता, स्खलन, प्रमाद और अपसिद्धान्त के लिए कोई स्थान नहीं है।

डॉ. संतोष आचार्य द्वारा निर्मित भारतीय दर्शन कोश 184 पृष्ठों का 1075 प्रविष्टियों वाला भारतीय दर्शन के प्रचलित और कुछ अप्रचलित पारिभाषिक शब्दावलियों, सम्प्रत्ययों और सिद्धान्तों का एक सरल एवं संक्षिप्त संग्रह है। स्वयं डॉ. आचार्य कोश का परिचय और एतद्विषयक अपनी बात कहते हुए यह स्वीकार करती हैं कि दार्शनिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि इतिहास के लम्बे दौर में विकसित दार्शनिक सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों की बुनियादी अवधारणाओं को एक ऐसी भाषा में स्पष्ट किया जाए जो सरल और प्रामाणिक हो। उनका यह भी मानना है कि दार्शनिक अवधारणाएँ अपनी पारिभाषिक जटिलता के कारण आधुनिक व्यक्तियों के लिए क्लिष्ट और बोझिल हो जाया करती हैं। अतएव डॉ. आचार्य ने इस 'कोश' के द्वारा सामान्य पाठकों एवं छात्रों की समझ-सीमा का ध्यान रखते हुए भारतीय दार्शनिक सम्प्रत्ययों को अपनी पारिभाषिक दुरूहता से उबारने का प्रयास किया है।

परन्तु डॉ. आचार्य की उपर्युक्त बात से दर्शन के विकास का क्या लेना-देना है, यह बात सीधे तौर से समझ में नहीं आती। विचारों के सरल प्रस्तुतीकरण से वह अधिक लोगों के लिए सुग्राह्य हो सकता है लेकिन इस गुण को विचारों का विकास कहना एक भूल ही कही जाएगी। विचारों का विकास तो आलोचना, प्रत्यालोचना, परिष्कार,

परिवर्द्धन और नवीन आयामों के उद्घाटन से सम्भव होता है। पुनः, सरलीकरण भी कोई साधारण कोटि का कर्म नहीं, बल्कि वास्तव में यह एक प्रौढ़ी-कर्म है। अन्यथा सरलीकरण एक प्रकार से न्यूनता का पर्याय बनकर रह जाता है।

'भारतीय दर्शन-कोश' नामधेय इस कृति में पूरे तौर से तो नहीं लेकिन कुछ एक प्रसिद्ध अवधारणाओं से सम्बन्धित प्रविष्टियों में इस प्रकार की विवरणात्मक न्यूनता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए पृ. 13 पर 'अद्वैतवाद' नामक प्रविष्टि में इस पद के अर्थ को अद्वैत-वेदान्त तक सीमित कर दिया गया है जबकि अद्वैतवाद शब्द अपने में **शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, शून्याद्वैत, शाक्ताद्वैत, शुद्धाद्वैत** इत्यादि को भी सम्मिलित करता है। ऐसे ही पृ. 27 पर **अवयव** शब्द का अर्थ पंचावयव के रूप में किया गया है जबकि **अवयव-अवयवीयवाद** न्याय-वैशेषिकों का आधारभूत एक तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त है। पुनः पृ. 31 पर **आगम प्रमाण** नामक प्रविष्टि में आगम प्रमाण का सामान्यीकरण शब्द प्रमाण के रूप में कर दिया गया है। वस्तुतः पौरुषेय शब्द राशि **(आप्त वचन, सर्वज्ञ वचन)** को आगम और अपौरुषेय शब्द राशि को **निगम** कहते हैं। पृ. 42 पर **इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष** को पूरे भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक शर्त बताया गया है जबकि यह केवल **न्याय, मीमांसा** दर्शनों के लिए उचित है। **व्याकरण** और **बौद्ध** इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की अवधारणा का भूरिशतः खण्डन करते हुए इन्द्रियों की **अप्राप्यकारिता** को सिद्ध करते हैं। ऐसे ही पृ. 111 पर **प्रमाणों की संख्या** बताते हुए कहा गया है कि भारतीय दर्शन में प्रमाणों की अधिकतम संख्या छह **(प्रत्यक्ष, अनुभाव, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि)** मान्य की गई है जबकि **पौराणिक** लोग **सम्भव, ऐतिह्य एवं युक्ति** को भी प्रमाण मानते हैं। **(सम्भवैतिह्य युक्तानि तानि पौराणिका जगुः)**। पुनः पृ. 134 पर **मिथ्यात्व** नामक प्रविष्टि में इसकी व्याख्या केवल जैन दर्शन में मान्य बन्धन के पंचविध कारणों—**मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग**—की सीमा में ही की गई है जबकि यह शब्द पूरे भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में एक व्यापक अवधारणात्मक व्याप्ति रखता है। पृ. 72 पर **जयराशिभट्ट** की प्रसिद्ध कृति का नाम **'तत्त्वोपल्लत'** बताया गया है जबकि उसे **'तत्त्वोपप्लवसिंह'** होना चाहिए। पृ. 124 पर कहा गया है कि सामान्यतः वेदों की व्याख्या करने वाले को **ब्रह्मवादी** कहते हैं, किन्तु तब तो **जैमिनी** को भी **ब्रह्मवादी** कहना पड़ेगा। ऐसे ही पृ. 110 पर **प्रत्यक्ष** का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष के निर्विकल्प और सविकल्प नामक दो भेद किये गए हैं। यह बात **न्याय** और **मीमांसा दर्शन** के लिए तो उचित है लेकिन **बौद्ध** केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और **वैयाकरण** केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करते हैं।

यद्यपि इस प्रकार की अवधारणात्मक अनवधानता और न्यूनता इस कोश में जगह-जगह देखी जा सकती है फिर भी जिस प्रयोजन को ध्यान में रखकर इस संक्षिप्त कोश

का निर्माण किया गया है उसे वह पूरा करता है। भारतीय दर्शन पर **कोश-निर्माण** करने की एक स्वाभाविक कठिनाई यह है कि इसमें एक ही शब्द के व्याख्याओं, पुनर्व्याख्याओं का इतना बहुवैविध्य प्राप्त होता है कि किसी एक प्रविष्टि के अन्तर्गत सबको समाहित करना बहुत विस्तार की अपेक्षा रखता है। इसके बावजूद **डॉ. आचार्य** ने बिना किसी **आकर ग्रन्थों** का संदर्भ दिए भारतीय दर्शन से सम्बन्धित 1075 पारिभाषिक शब्दावलियों के अवधारणात्मक निहितार्थ को जितने सरल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है वह एक सीमा तक सराहनीय है। इस कोश में उन्होंने पहली बार **श्री अरविन्द, दयानन्द, विवेकानन्द, राजा राममोहन राय, गांधी, बाल गंगाधर तिलक, रवीन्द्रनाथ टैगोर, रामकृष्ण परमहंस, जे. कृष्णमूर्ति, राधाकृष्णन, एम.एन. राय, के.सी. भट्टाचार्य और यशदेव शल्य** के दार्शनिक परिचय को प्रवृष्टि बनाया है, इसके लिए वे साधुवाद की पात्र हैं। इन दार्शनिकों के दार्शनिक योगदानों को थोड़ी और गम्भीरता एवं विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जाता तो बहुत ही अच्छा होता।

कुल मिलाकर डॉ. आचार्य की इस कृति को भारतीय दर्शन-कोश की संज्ञा से तो अभिहित नहीं किया जा सकता, क्योंकि भारतीय परम्परा में कोश-ग्रन्थ लेखन की बड़ी समृद्ध परम्परा रही है। इसे अधिक से अधिक **भारतीय दर्शन** की **पारिभाषिक शब्दावलियों** का एक सरल संग्रह अवश्य कहा जा सकता है। इस रूप में भी यह भारतीय विश्वविद्यालयों के स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के लिए बहुत ही छात्रोपयोगी है।

अम्बिकादत्त शर्मा
दर्शन विभाग,
डॉ. हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय,
सागर (म. प्र.)